संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायास्सप्तसप्ततितमं पुष्पम्

अहिंसा दर्शन

एक अनुचिन्तन

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली – 110016

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायास्सप्तसप्ततितमं पुष्पम्

अहिंसा दर्शन

एक अनुचिन्तन

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालयः)
कुतुब सांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

आई.एस.बी.एन : 81-87987-51-0

प्रकाशनवर्ष - 2012

मूल्यम् : 160/- ₹

मुद्रकः
अमरप्रिंटिंगप्रैसः
देहली-११०००९
दूरभाषः : 9871699565, 8802451208

पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति अहिंसा प्रधान संस्कृति है । सभी धर्मों ने अहिंसा के गीत गाये हैं । इसे प्रथम धर्म माना है तथा इसकी उपलब्धि होने पर ही सत्य का भी पालन होता है –

अहिंसा प्रथमो धर्मः सर्वेषामिति सन्मतिः।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं सूनृतं तदनन्तरम् ॥

(कुरलकाव्य 23/3)

जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों की सुदीर्घ परम्परा ने अहिंसा धर्म की आराधना पर विशेष बल दिया, यही कारण है कि अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या तथा जीवन में उसके प्रयोग इस परम्परा में आज तक सुरक्षित हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि विद्यापीठ के जैनदर्शन विभाग के विद्वान् मनीषी डॉ. अनेकान्त कुमार जैन ने इस पुस्तक में अहिंसा जैसे शाश्वत मानवीय मूल्य को विभिन्न धर्म-दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में देखते हुये उसके प्रयोगों की प्रासंगिकता पर सरल भाषा में गहराई से विचार किया है। इस सम्बन्ध में अनेक अनुद्घाटित पक्षों को सामने लाने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ के माध्यम से जिज्ञासुओं एवं गवेषकों को विचार-विमर्श हेतु चिन्तन के नये बिन्दु प्राप्त होंगे। ग्रन्थ के उत्तम प्रकाशन हेतु मैं विद्यापीठ के शोध एवं प्रकाशन विभाग को भी धन्यवाद देती हूँ।

प्रो. उषारानी कपूर
कुलपति (प्रभारी)

प्रकाशकीय

जीव मात्र की जिजीविषा और मानव की दया-भावना से आविर्भूत अहिंसा की धारा प्राचीनकाल से आज तक कालक्रम के विभिन्न आरोहों और अवरोहों में भी सतत प्रवाहित हो रही है । इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके निमेषोन्मेष का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलता शिथिल होती है और इसका सहज-स्वाभाविक रूप हमारे सामने आता है ।

ब्राह्मण-श्रमण परम्पराओं में इसकी समान मान्यता है, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारतीय जीवनशैली अहिंसा पर आधारित है । अहिंसा भारतीय संस्कृति की आत्मा है । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवन तथा सिद्धान्तों में हमें अहिंसा के मधुर स्वर सुनायी देते हैं । बाद की आचार्य परम्परा ने भी अहिंसक संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में अप्रतिम योगदान दिया ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् का उद्घोष है कि –

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 6/32

अर्थात् सुख-दुःख में समता का भाव रखने वाला ही परम योगी है। आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में स्पष्ट लिखा है –

आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षाऽत्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः॥ 6/30

अर्थात् किसी भी जीव का वध करना आत्मवध है और अन्य जीव की रक्षा करना आत्मरक्षा है । इसलिये आत्मवध नहीं करना चाहिए और अन्य जीव का घात करना छोड़ देना चाहिए ।

जब हम दूसरे प्राणियों को भी अपने ही समान समझेंगे तभी हिंसा से विरत हो पायेंगे क्योंकि दु:ख किसी को भी प्रिय नहीं है ।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः ॥

मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना ही अहिंसा है। योगदर्शन में इसे ही अनभिद्रोह शब्द से कहा गया है –

तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः । (पातञ्जल योगसूत्र भाष्य 2.30)

बौद्ध साहित्य सुत्तनिपात में लिख है –

पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमन्या हनतं परेसं।
सव्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

भारत में उत्पन्न ऐसी एक भी दार्शनिक परम्परा नहीं है, जिसने अहिंसा को अपना विषय न बनाया हो । बाहर की संस्कृतियाँ भी जब भारत के संपर्क में आयीं, तब यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुये बिना न रह सकीं ।

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन को हार्दिक बधाई देता हूँ, जिन्होंने अपने इस ग्रन्थ 'अहिंसा दर्शन : एक अनुचिन्तन' में इस बात पर भी गहराई से विचार किया है । संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में प्रतिपादित अहिंसा दर्शन की समीक्षा लेखक ने व्यावहारिक धरातल के निकष पर की है तथा जिसकी प्रासंगिकता को प्राञ्जल शैली में स्थापित करने का सफल प्रयास किया है । यह अनुचिन्तन इसलिए भी प्रशंसनीय है कि आज की भागदौड़ में सहजता और सरलता के मार्ग का आश्रय करके ही प्राच्य विद्या के ग्रन्थों में निहित ज्ञान राशि से ही जिज्ञासु समाज को लाभान्वित किया जा सकता है ।

रमेश कुमार पाण्डेय

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

Prof. Radhavallabh Tripathi
Vice-Chancellor
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed to be University
(Under MHRD, Govt. of India)

शुभाशंसा

अहिंसा समस्त भारतीय दर्शनों तथा चिन्तन प्रस्थानों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। अहिंसा परम्परा जितना गहन तत्त्वमीमांसीय प्रश्न है, उतनी गहराई से वह जीवन दृष्टि, आचार और जीवन पद्धति में सम्पृक्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अहिंसा विषयक समस्त विमर्श को सर्वांगीण दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन ने 'अहिंसा दर्शन : एक अनुचिन्तन' के माध्यम से विभिन्न धर्म शास्त्रों से अहिंसा की खोज करते हुए अनेक महापुरुषों के चिंतन और प्रयोगों में उसके महत्व को समझाया है। आधुनिक युग के सामाजिक जीवन में अहिंसा के विभिन्न प्रयोगों की सार्थकता को दर्शाते हुए विचारक जगत् को चिंतन हेतु कुछ नए बिंदु भी दिए हैं जो इस ग्रन्थ की मौलिकता को रेखांकित करते हैं।

नए पीढ़ी के मध्य अहिंसा आस्था को स्थापित करने के लिए यहाँ एक सार्थक हस्तक्षेप है जो प्राचीन मूल्यों को युगानुरूप नयी दिशा देने में सफल है। आशा है विश्वशांति की स्थापना में प्रयत्नशील वैचारिक और प्रायोगिक जगत् में इस कृति का स्वागत होगा।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

प्राक्कथन

सिद्धान्त, चेतना और प्रयोग- इन तीन स्तर पर अहिंसा की अनुभूति आवश्यक है। इतने विशाल शाश्वत मूल्य की प्राचीन विरासत को पाकर भी हम इसके प्रति तमाम भ्रांतियाँ पालकर उसकी उपेक्षा करके स्वयं को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व को अशांत कर लें, तो यह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। अच्छा यही होगा कि हम समय रहते अहिंसा जैसे सर्वकल्याणकारी सुख-शान्ति प्रदायी जीवन मूल्यों को आत्मसात कर लें, ताकि समाज, सम्पूर्ण विश्व सुरक्षित रहे, और उसका भविष्य सुरक्षित रहे।

जैन कुल में जन्म लेने से शुद्ध पारम्परिक अहिंसा धर्म के संस्कार विरासत में मुझे मिले ही हैं साथ ही मेरे पूजनीय पिताजी प्रो. डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी (पूर्व अध्यक्ष-जैनदर्शनविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) तथा पूजनीया माँ डॉ. मुन्नीपुष्पा जैन जी का सतत प्रशिक्षण मुझे हिंसा के कुतर्कों का सामना करने तथा निरन्तर अनुसन्धान करते रहने को प्रेरित करता रहा। इस ग्रन्थ में भी उनका विशेष मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ है। सर्वविद्या की राजधानी काशी में अध्ययन के दौरान मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरे ऐसे कई मित्र जिनके घरों में कभी प्याज-लहसुन तक निषिद्ध था, वे बाज़ार में खड़े होकर अण्डा और मांसाहार तक अपनाने में संकोच नहीं कर रहे थे। उन्हें शाकाहारी बनाने की मैं पूरी कोशिश करता था। उन दिनों मैंने कई वैज्ञानिक प्रमाण एकत्रित करके 'शाकाहार' के समर्थन में कई लेख भी लिखे। काशी के सुप्रसिद्ध दैनिक अखबार 'गाण्डीव' में 16 अप्रैल 1992 को मेरा एक लेख 'अहिंसक क्रान्ति का सूत्र शाकाहार' जब

पहली बार प्रकाशित हुआ तब मेरा उत्साह द्विगुणित हो गया। मेरे कई मित्रों ने शाकाहार को अपनाया। इस विषय पर मेरा लेखन का क्रम भी चलता रहा।

पी–एच.डी. हेतु शोधकार्य के माध्यम से मेरे शोध निदेशक श्रद्धेय गुरुवर आचार्य दयानन्द भार्गव जी के सान्निध्य में मैं जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राजस्थान) में कई वर्षों तक रहा। उनके चिन्तन और जीवन का मेरे चिन्तन पर काफी प्रभाव पड़ा। पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी एवं पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के सानिध्य और चिन्तन से तो प्रभावित था ही, जैन विश्व भारती में आचार्य श्री तुलसी जी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के व्यापक चिन्तन का भी मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल जी, प्रो. नथमल टाटिया जी, प्रो. रामजी सिंह जी, प्रो. मुसाफिर सिंह जी प्रो. सागरमल जैन जी, प्रो. कमलचन्द सौगाणी जी, प्रो. राजाराम जैन जी, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के विचारों से मैं काफी प्रभावित रहा।

मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में सभी पाठ्यक्रमों में समान रूप से पढ़ाने हेतु मूल्यपरक शिक्षा के अन्तर्गत इसके नियामक श्री पवन जैन जी ने मुझसे इस विषयक एक विशाल पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार कराई थी, जिसमें ऐसा विचार बना कि आरम्भ में अहिंसा के विविध पहलुओं को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाय ताकि नयी पीढ़ी अहिंसा का सार्वभौमिक महत्त्व समझ सके। इस निमित्त मैंने उस समय अहिंसा पर नये तरीके से चिन्तन परक रूप में एक यूनिट लिखा था, किन्तु वह योजना तो अपूर्ण रह गयी; पर अहिंसा पर मेरा अनुसन्धान सतत चलता रहा।

विद्यपीठ के पूर्व कुलपति अहिंसा भक्त स्वर्गीय श्रद्धेय आचार्य वाचस्पति उपाध्याय जी की यह प्रेरणा मुझे निरन्तर उत्साहित करती रही कि अहिंसा पर व्यापक चिन्तन–अनुसन्धान करते हुये सरल भाषा में मैं एक ग्रन्थ लिखूँ । उनके अकस्मात् वियोग होने से यह कृति उनके

सामने नहीं आ सकी । आज उनका स्मरण कर मन बहुत भावुक हो उठता है।

सतत अहिंसक चिन्तन करने वाले तथा अहिंसक जीवन को चरितार्थ करने वाले सभी महाव्रती आचार्यों, मुनियों तथा अहिंसा के अन्य साधकों के प्रति मैं विनयी हूँ, जिनके आशीर्वाद से मुझे यह दृष्टि प्राप्त हुई है।

मैं आभारी हूँ आदरणीय कुलपति प्रो. उषारानी कपूर तथा शोध एवं प्रकाशन अधिकारी आदरणीय प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी का जिन्होंने अपने आशीर्वाद के साथ ग्रन्थ प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान की तथा तत्परता से इस ग्रन्थ का सुन्दर प्रकाशन किया है। डॉ. ज्ञानधरपाठक जी की सक्रियता के बिना यह कार्य जल्दी संभव नहीं था, अत: उनका विशेष धन्यवाद।

मेरे विभाग, संकाय तथा विद्यापीठ के सभी विद्वानों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इस प्रस्तुति में सुधी पाठक कुछ नया जोड़ सकें तो मैं अपना सौभाग्य मानूँगा।

तीर्थंकर ऋषभदेव जयन्ती
16 मार्च 2012

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन
anekant76@yahoo.co.in

प्रास्ताविक

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो।।

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

वास्तव में अहिंसा मानवता की उपलब्धि है, उसका शृंगार है। भारतीय परम्परा में अहिंसा को मात्र धर्म ही नहीं बल्कि परमधर्म कहा गया है। नीतिकारों ने एक छोटे से सूत्र में अहिंसा को समझाने का विपुल पुरुषार्थ किया है–

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

जो-जो आचरण हमें प्रतिकूल लगता है वह हम दूसरें के प्रति भी न करें।

आज सम्पूर्ण विश्व के समक्ष 'हिंसा' एक ऐसी विशाल समस्या बनकर उभर चुकी है कि उसने अन्य सभी समस्याओं को गौण कर दिया है। अन्य समस्याओं की जड़ भी इसी 'हिंसा' में मिल रही है। आश्चर्य तो यह भी है कि इस समस्या का एक मात्र समाधान भी प्रति-हिंसा ही मान लिया गया है। किन्तु यह स्थायी समाधान नहीं है। यदि ऐसा होता तो अब तक हिंसा का जनाज़ा निकल गया होता। प्रतिहिंसा से हिंसा भड़कती है। उसका स्थायी समाधान है अहिंसा। हिंसा की तरह अहिंसा के बीज भी मनुष्य के मस्तिष्क में हैं। अत: समाधान वहाँ खोजना है।

जिस प्रकार पानी मथने से घी नहीं मिलता, वैसे ही हिंसा से शांति नहीं होती। शांति के सारे रहस्य अहिंसा के पास हैं। आवश्यकता है इस सन्दर्भ में कुछ नया खोजने तथा प्रयोग करने की। जब तक हम

नयी खोज के निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पायेंगे, अहिंसा की क्रियान्विति कोरी कल्पना बनकर रह जायेगी। कल्पना के आवरण को उतारे बिना विश्व शांति का सपना साकार नहीं हो सकता।

अहिंसा की खोज

गहनतम अपराधियों में भी कभी-कभी बच्चों जैसा निर्दोष भाव होता है। उस भाव की गहराई में जाकर अनुसन्धान करने का प्रयास कर रहा हूँ। यह भाव तो मनुष्य का स्वभाव है, फिर यह इतना सिकुड़ कैसे गया कि कभी कभी दिखायी देता है। हिंसा रूपी विभाव इतना फैल कैसे गया कि स्वभाव पर कई पर्तें चढ़ा रहा है?

हम इतने संवेदनहीन और स्वार्थी कैसे हो रहे हैं कि तड़फते जीवों को देखकर हमारी आँखें अब नम नहीं होतीं। हम बड़ी से बड़ी दुर्घटना देखकर भी तब तक नहीं रोते जब तक कि इससे हमारा कोई सगा पीड़ित न हुआ हो।

चंद रुपयों की खातिर हम किसी का घर उजड़ते कैसे देख लेते हैं? निर्दोष पशु-पक्षियों के कत्ल से बने व्यञ्जन हलक से कैसे उतर जाते हैं? ऐसे निपट करुणा विहीन जीवन जीने को हम मानवीय सभ्यता का विकास कैसे कह सकते हैं?

अपना ज़मीर बेचकर खुशियाँ खरीद लें,
ऐसे तो इस जहाँ के तलबदार हम नहीं।
वो आँख क्या जो गैर की खातिर न रो सके,
वो दिल ही क्या जिसमें जमाने का गम नहीं।।

अहिंसा का अर्थ

अहिंसा का अर्थ है आत्माओं की साम्यता का सिद्धान्त । जो अन्य जीवों के भीतर है, वही तुम्हारे भीतर है। मैं अपने को ही चोट कैसे पहुँचा सकता हूँ? जो इस अनुभूति में जियेगा कि दूसरों को दु:ख देने का अर्थ है खुद को दु:ख देना—वह हिंसा में प्रवृत्त नहीं होगा। जिसे

यह अनुभव हुआ हो कि मैं ही सब में फैला हुआ हूँ या सब मुझसे ही जुड़े हुये जीवन हैं, जीवन एक है, आत्मभाव एक है–उसके व्यवहार में अहिंसा फलित होती है।

'अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं'[1]

जो इस अनुभव में नहीं उतरा कि मैं जिसे मार रहा हूँ वह मैं ही हूँ–वह भ्रम में जी रहा है।[2]

इसलिए वह दूसरों को कष्ट पहुँचाने में आनन्द मान रहा है। उसे यह इल्म नहीं है कि–

परेशां होने वाले तो परेशानी सह भी जाते हैं।
परेशां करने वालों की परेशानी नहीं जाती।।

शायद इसीलिए यह सूत्र आया कि दूसरों का वध करना दरअसल खुद का वध है। दूसरे पर दया दरअसल खुद पर दया है।[3]

हिंसा की स्थिति इतनी अधिक भयावह तथा विकराल है कि स्वयं के अहित की कीमत पर भी दूसरों का अहित करना मंजूर है। मेरी जान चली जाये पर दूसरों का जीवन जरूर लेना है। मानव बम की अवधारणा इसका जीवन्त उदाहरण है। अमेरिका में वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर पर वह हवाई जहाज ले जाकर टकरा दिया जिसमें वे आतंकी स्वयं सवार थे। खुद की परवाह नहीं की, माँ–बाप, पत्नी–बच्चों को क्या याद करते? हज़ारों निर्दोष लोगों की जान के प्रति करुणा का तो क्रम ही नहीं आता। फिर पशु–पक्षियों के जीवन की रक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में भी अहिंसा की बात कहना–आशा की एक किरण है।

वो जितना समर्पण और पुरुषार्थ हिंसा को फैलाने के लिये कर रहे हैं, हमें अहिंसक चिन्तन और व्यवहार को फैलाने का कार्य उतने

1. स्वयंभूस्तोत्र–आचार्य समन्तभद्र, श्लोक–119
2. तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि,'– आचारांग, 5/5/101
3. जीव वहो अप्पवहो, जीव दया अप्पणो दया होइ। –समणसुत्तं, गाथा–151

ही दूने–तिगुने समर्पण और पुरुषार्थ के साथ करना है। मुट्ठीभर हिंसक संगठित होकर पूरे विश्व को हिला रहे हैं तो करोड़ों अहिंसक संगठित होकर क्या मानवता की रक्षा नहीं कर सकता? इस भयावह स्थिति से निपटने का एक मात्र उपाय है अहिंसक चेतना का अधिक से अधिक विकास। जब सभी द्वार बंद दिखें तो अहिंसा का रास्ता ही एक मात्र ऐसा रास्ता है जो संभावना के नये द्वार खोल सकता है। हिंसा–रक्तपात के वातावरण में भी जीवन की शांति की बात कर सकता है, विवेक जगा सकता है।

दो विश्व युद्ध हो चुके हैं। द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका लोग देख चुके हैं। कहते हैं कि चौथा विश्व युद्ध कभी नहीं होगा क्योंकि यदि तृतीय विश्व युद्ध हुआ तो कोई बचेगा ही नहीं कि चौथे की सोच सकें। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि हिंसा के अहिंसक विकल्प खोजे जायें। उनका प्रयोग किया जाय, उन पर अमल किया जाय। तभी समस्त जीवधारियों का अस्तित्व बच सकता है। जीवन सुरक्षित रह सकता है। अन्यथा जिस दिन आतंकियों ने उन राष्ट्रों पर अपना कब्जा कर लिया जिसने परमाणु बना रखे हैं, वह दिन मानवता का अंतिम दिन होगा।

युद्ध में अहिंसा के प्रयोग की प्रथम घटना

अहिंसा की चर्चा सदा से चलती आयी है, लेकिन जब से राजनैतिक क्षेत्र में इसका प्रवेश हुआ है तब से वह अधिक विमर्शणीय हो गयी है। प्राचीनकाल के भी कुछ उदाहरण हैं जब युद्ध में अहिंसा की चर्चा करके उसे टाला गया। राजा ऋषभदेव के पुत्र भरत छह खण्ड का राज्य जीतकर चक्रवर्ती बनना चाहते थे किन्तु उन्हीं के लघुभ्राता बाहुबली अपने राज्य के साथ उनकी अधीनता स्वीकार न कर सके, युद्ध की नौबत आ गयी। दोनों ओर विशाल सेनायें और दो सगे भाई भीषण युद्ध को तैयार। तभी अहिंसा का स्वर गूंजा कि दो भाईयों के युद्ध में हजारों–लाखों निर्दोष सैनिकों का संहार क्यों? यह तर्क सभी को

पसन्द आया और तय हुआ कि ये दो भाई स्वयं आपस में तीन युद्ध करें–(1) मल्ल युद्ध (2) दृष्टि युद्ध तथा (3) जल युद्ध। हार–जीत का फैसला यहीं हो जायेगा।

बाहुबली युद्ध जीत गये, किन्तु विचार किया कि इस नश्वर संसार के लिए सगे भाई से युद्ध करना पड़ा! हृदय परिवर्तित हुआ। जीतकर भी राज्य का त्याग कर दिया, उसे भरत को दे दिया और स्वयं संयम और तप के मार्ग पर निकल पड़े।

युद्ध में अहिंसा के प्रयोग की यह प्रथम घटना है जब नरसंहार उचित नहीं समझा गया। ऐसे और भी उदाहरण हैं। अन्यथा अहिंसा को धर्मक्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता था। वह मात्र मोक्ष का साधन मान लिया गया था। राष्ट्र या समाज व्यवस्था में भी उसका उपयोग सार्थक है इस विषय पर चर्चा कम होती थी।

आधुनिक युग में प्रयोग

आधुनिक युग में गांधी जी ने राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया। उन्होंने समाज से इस बड़ी भ्रांति को मिटाया कि अहिंसा मात्र धर्म या साधु–सन्यासियों के काम की चीज है। यह बात भी ठीक है कि बड़ी भ्रान्ति को बड़े लोग ही मिटा पाते हैं। गाँधी जी के प्रयत्न से लोगों की समझ में आया कि अहिंसा एक व्यापक तत्त्व है। यह चिन्तन धर्म से आया है किन्तु इसका प्रयोग मात्र धार्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह उपयोगी है तथा समस्याओं के स्थायी समाधान के लिए एक मात्र आधार है। इक्कीसवीं सदी में अन्ना हजारे जी ने भ्रष्टाचार के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन करके अहिंसा पर आस्था को बढ़ाया जिससे नयी पीढ़ी ने भी उसकी कीमत को पहचाना है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक का अहिंसा का यह सफर हमारे भीतर बुराई के प्रति अच्छाई से लड़ने का विश्वास पैदा करता है।

अहिंसा : श्रद्धा और तर्क

जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं[1]

'जो दुःख मुझे प्रिय नहीं है, वही दुःख दूसरे जीवों को भी प्रिय नहीं है'–बस इतना सा तर्क है। जो यह समझ ले वह तो धर्म को समझ सकता है, शास्त्र को समझ सकता है, जीवन के रहस्य को समझ सकता है। इस लोक में भी सुखी हो सकता है और पर लोक में भी। मुक्त भी यही हो सकता है।

सभी जीवों को अपने समान समझना कोई आसान बात नहीं है, ऐसा विरले ही कर पाते हैं, जो कर लेते हैं वे ही अहिंसक हैं, वे ही पण्डित हैं, ज्ञानी हैं। शास्त्रों में कहा है–

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः'

अहिंसा सभी आत्माओं का स्वभाव है, विभाव नहीं। हिंसा विभाव है। अपने स्वभाव को छोड़कर विभाव परिणति में रहने वाला जीव कभी न खुद सुख प्राप्त कर सकता है न दूसरों को पहुँचा सकता है। इसमलिए आत्मा ही अहिंसा है–

'अत्ता चेव अहिंसा'[2]

अहिंसा को धारण करने वाला जीव ही इस मायावी संसार में रहकर भी उससे निर्लिप्त उसी प्रकार रह सकता है जैसे जल में कमल रहता है। कमल जल में भी रहता है ओर जल से भिन्न भी रहता है–

'कमलममिव निरूपलेपत्वप्रसिद्धरहिंसक एव स्यात्'[3]

तभी तो ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं[4]

'अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें घर पर प्राप्त हो।'

---

1. समणसुत्तं, गाथा-150
2. जयधवला- आचार्य वीरसेन, भाग-1, पृ. 34
3. प्रवचनसार–आचार्यकुन्दकुन्द, गाथा-18 पर टीका
4. ऋग्वेद 5/64/3

अहिंसा की प्रतिष्ठा

हम सभी में से ऐसा कौन होगा जो यह नहीं चाहता कि मनुष्यों में जाति, धर्म, राष्ट्र, भाषा आदि को लेकर कोई बैर भाव न रहे। सम्पूर्ण विश्व में शान्ति रहे, लोग लड़ें-झगड़ें नहीं, मारें-काटें नहीं, किन्तु इसके लिए क्या करना होगा? एक ही उत्तर है-'अहिंसा की प्रतिष्ठा करनी होगी तभी यह संभव है-

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'[1]

आज वह समय अब आ गया है जब हमें शाश्वत मानवीय मूल्यों की रक्षा उसी प्रकार करनी है जैसा कि हमारे पूर्वज करते आये हैं। अहिंसा की गणना शाश्वत मूल्यों में सबसे पहले इसलिए की जाती है क्योंकि इसी से सम्पूर्ण जीवों का अस्तित्त्व जुड़ा हुआ है। अस्तित्त्व ही नहीं रहेगा तो शेष मूल्यों का हम करेंगे क्या? इसीलिए कहा गया है कि प्राणियों में अनुशासन भी अहिंसक-रीति नीति से किया जाना श्रेयस्कर है-

'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्'[2]

क्योंकि अहिंसा सभी धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है।[3]

इस बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में श्रुतियों की साक्षी से कहा-

'परमधरम श्रुति विदित अहिंसा,'[4]

विश्व शान्ति हेतु अहिंसा को जगत् की माता कहा गया है और माना गया है कि यही आनन्दानुभूति का एक मात्र साधन है-

---

1. योगसूत्र- 2/35
2. मनुस्मृति- 2/159
3. महाभारत- 13/11/28, पद्मपुराण 6 (उत्तर) 64/63-64 - 'अहिंसा परमोधर्मः इति वेदेषु गीयते'
4. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 130-ख

'अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः'[1]

प्राकृत आगम साहित्य में कहा गया कि जैसे भयभीतों को शरण, पक्षियों को गगन, तृषितों को जल, भूखों को भोजन, समुद्र में जहाज, रोगियों को औषध और वन में सार्थवाह का साथ आधारभूत होता है वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधार-प्रतिष्ठान है।[2]

जैनधर्म और अहिंसा

जिस धर्म का सम्बन्ध मनुष्य या प्राणी से है, वह धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का कैसे हो सकता है? यही कारण है कि अहिंसा का महत्त्व संसार के सभी धर्मों तथा महापुरुषों ने स्वीकारा है तथा अपने अपने तरीके से अहिंसा की व्याख्या अपने अपने ग्रंथों में की है।

इन्हीं सभी धर्मों में आरम्भ से ही भारत में अध्यात्म की साधना का मंत्र बतलाता हुआ जैनधर्म भी भारतीय संस्कृति को अहिंसा से आज भी अनुरंजित किये हुये हैं। प्रागैतिहासिक काल से ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें किन्तु अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अहिंसक जीवन पद्धति की एक व्यवस्थित रूपरेखा हम सभी के समझ उपस्थित की।

यद्यपि सभी धर्मों ने अहिंसा की महिमा गायी और उसे अनुकरणीय बतलाया किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि अहिंसा का जितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक, व्यवस्थित और प्रायोगिक चिन्तन जैनधर्म ने प्रस्तुत किया उतना अन्य धर्म के लोग नहीं कर सके। देश-विदेश के अनेक चिन्तकों ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया है कि अहिंसा जैसे शाश्वत मूल्यों की रक्षा, उसका प्रयोग तथा उसका संवर्धन करने में जैन धर्म ने महान् योगदान दिया है। सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक, पूर्व सांसद प्रो. रामजी सिंह लिखते हैं–

---

1. ज्ञानार्णव-आचार्य शुभचन्द्र, 8/32
2. प्रश्न व्याकरण, संवर द्वार, 1

'जैनधर्म का यह सौभाग्य है कि उसने अहिंसा को केवल अपनी पहचान ही नहीं बताया है, अहिंसा की साधना में व्यक्तिगत, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का सर्वोच्च मूल्य बनाया है।'[1]

सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक एवं साहित्यकार यशपाल लिखते हैं–

'महावीर से पहले भी अनेक धर्म-प्रवर्तकों तथा महापुरुषों ने अहिंसा के महत्त्व एवं उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला था, लेकिन महावीर ने अहिंसा-तत्त्व की जितनी विस्तृत, सूक्ष्म अथवा गहन-मीमांसा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होंने अहिंसा को आत्मिक-उन्नति के सोपानों में प्रथम-स्थान पर रखा और उस तत्त्व को चरम-सीमा तक पहुँचा दिया। कहना होगा, कि उन्होंने अहिंसा को सैद्धान्तिक-भूमिका पर ही खड़ा नहीं किया, उसे आचरण का अधिष्ठान भी बनाया।[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–

'भगवान् महावीर से बड़ा अहिंसाव्रती कोई नहीं हुआ। उन्होंने विचारों के क्षेत्र में क्रान्तिकारी अहिंसकवृत्ति का प्रवेश कराया।[3]

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी अहिंसा के पुजारी थे। वे जैन साधुओं के सम्पर्क में बचपन से रहे। श्रीमद् राजचन्द्र उनके अनन्य मित्र थे। महात्मा गाँधी कहते हैं–

'संसार के किसी भी धर्म ने अहिंसा की इतनी सूक्ष्म और व्यापक-परिभाषा नहीं की है, जितनी जैनधर्म ने की है। उसने इसे विशेष

1. तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-मार्च, 2011' विश्वशांति के प्रति जैन धर्म का अवदान', पृ. 94
2. वर्धमान महावीर स्मृति ग्रन्थ, प्रका. जैनमित्र मंडल, दिल्ली, सन्-2002, पृ. 92 पर लेख 'अहिंसा के आयाम : महावीर और गांधी'।
3. प्राकृत विद्या, वर्ष-13, अंक-2, पृ. 30-39

रूप से मन, वचन, काय से आचरण में उतारने पर बल दिया है। अहिंसा का यह उदात्त-सिद्धान्त जब भी संसार में व्यवहार में आयेगा, तो निश्चय ही जैनधर्म का विशेष-योगदान रहेगा और भगवान् महावीर का नाम 'अहिंसा के अग्रदूत' के रूप में लिया जायेगा। यदि किसी ने अहिंसा के सिद्धान्त को विकसित किया है, तो वे महावीर हैं। इस पर विचार करें और अपने जीवन में उतारें।[1]

अत: नि:संदेह जैनधर्म-दर्शन के अहिंसा विषयक योगदान को नकारा नहीं जा सकता। अहिंसा के प्रति जैन धर्म की अत्यधिक दृढ़ता का ही यह परिणाम है कि आज भी अधिकांश अनुयायी मांसाहार इत्यादि हिंसक कुरूतियों से बचे हुये हैं। आज भी दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन मुनि पूरे देश में नंगे पैर पैदल भ्रमण करते हैं। गाँव-गाँव, शहर-शहर देश के सभी वासियों को अहिंसा-शाकाहार, त्याग, तपस्या और संयम का उपदेश देकर आज भी मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में समर्पित हैं। अनेक हिन्दू साधु-सन्त गो-वध आदि के विरोध में आन्दोलन करते रहते हैं। शाकाहार के प्रचार-प्रसार में संलग्न रहते हैं। कई अनेक महापुरुष आज भी हैं जो हिंसा के घोर अन्धकार में भी अहिंसा की रोशनी करने का प्रयास लगातार कर रहे हैं।

हम सभी को मिलकर अहिंसा का रथ आगे की तरफ ले जाना है। यह किसी एक धर्म, सन्त या व्यक्ति का कार्य नहीं है। इन शाश्वत मूल्यों के संरक्षण और संवर्धन के लिए सभी अहिंसा प्रेमियों को अपने-अपने स्तर पर प्रयास करने होंगे तभी हम मानवता की रक्षा सही अर्थों में कर सकेंगे।

---

1. वर्धमान महावीर स्मृति ग्रन्थ, पृ. 57 पर उद्धृत।

विषय सूची

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायास्सप्तसप्ततितमं पुष्पम्

अहिंसा दर्शन

एक अनुचिन्तन

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

अहिंसा दर्शन
डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली

प्रथम अध्याय

अहिंसा की पृष्ठभूमि

विश्व का प्रत्येक प्राणी जीवन जीना चाहता है, सिर्फ जीना ही नहीं चाहता बल्कि सुखपूर्वक जीना चाहता है। मृत्यु और दु:ख किसी भी प्राणी को पसन्द नहीं हैं। प्राकृतिक मृत्यु, आपदाओं और दु:खों पर तो प्राणी का वश नहीं चलता अत: उन्हें तो भोगना ही पड़ता है किन्तु किसी दूसरे प्राणी के द्वारा दिये गये दु:ख और मृत्यु तो उसे किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं हैं। यह तथ्य किसी धर्म, मजहब या राष्ट्र तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सच्चाई सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

दुनिया या ब्रह्माण्ड का चाहे कोई भी स्थान हो, जहाँ-जहाँ जीव, चेतना, रूह, प्राणी या फिर आत्मा वास करती है, वहाँ-वहाँ इस तथ्य या सच्चाई को कोई नकार नहीं सकता। हम चाहे किसी भी राष्ट्र या मजहब के हों अथवा मनुष्य के अलावा किसी भी जाति के प्राणी हों, हमें दु:ख और मृत्यु किसी भी तर्क से स्वीकृत नहीं है।

बस, यही एक आधार है, जिस पर आधारित है सम्पूर्ण मानवधर्म। सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य हैं और वे भी सभी अलग-अलग धर्मों को मानने वाले हैं। छोटे-बड़े अनेकानेक सम्प्रदाय सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित हैं। हम यदि गहराई से विचार करें कि उन सभी धर्मों में कौन सी ऐसी बात है, जो एक जैसी है? कौन सा ऐसा सिद्धान्त है, जिसका पालन करने के लिए सभी धर्मगुरु प्रेरित करते हैं? तो हम पायेंगे कि प्रेम, करुणा, इंसानियत, मानवता,

दया, क्षमा तथा सभी के कल्याण की भावना, लगभग सभी धर्मों में समान हैं। कोई भी धर्म यह नहीं कहता है कि दूसरे प्राणी को दु:ख दो, झूठ बोलो, चोरी करो, व्यभिचार करो। धर्म यह कह भी नहीं सकता, क्योंकि धर्म ही यदि ऐसा कहेगा तो फिर हम अधर्म की क्या परिभाषा करेंगे? तब तो धर्म और अधर्म के बीच विभाजक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन हो जाएगा।

यदि हम मानव हैं किन्तु हममें मानवीयता नहीं है, इंसान हैं, किन्तु हममें इंसानियत नहीं है और यदि दूसरे प्राणियों को जान से मारना या फिर उन्हें दु:ख पहुँचाना ही हमारा कार्य है तो सबसे पहले हमें स्वयं मरने और दु:ख भोगने को तैयार रहना चाहिए क्योंकि ऐसे विचार सिर्फ हमारे ही नहीं हैं। सामने वाले के भी हो सकते हैं फिर भी यदि हमें यह स्वीकृत है तब तो कोई नहीं बचेगा, सब समाप्त हो जाएगा। गाँधी जी कहा करते थे कि आँख के बदले आँख फोड़ने की संस्कृति रही तो एक दिन पूरा संसार अंधा हो जायेगा। यही कारण है कि पृथ्वी पर सब नियमों के पहले, सबसे पहला नियम उभरकर आया – '**जियो और जीने दो**' – और यही मनुष्यधर्म की पहली सीढ़ी है।

जिस तरह हम जीना चाहते हैं, उसी प्रकार दूसरा प्राणी भी जीना चाहता है। इस दुनिया में सिर्फ हम ही नहीं हैं, हमारी ही तरह दूसरे भी हैं। यदि हम किसी को जीवन नहीं दे सकते तो जीवन लेने का भी हमारा कोई अधिकार नहीं है। इस अवधारणा के आधार पर '**अहिंसादर्शन**' का जन्म हुआ, यही अहिंसा दर्शन की पृष्ठभूमि भी है और आधारभूमि भी।

अहिंसा केवल एक व्रत नहीं है, एक विचार है, एक समग्र चिन्तन है। अहिंसा किसी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या गुरुद्वारे पर जाकर सुबह-शाम सम्पन्न की जाने वाली कोई पूजा, नमाज, प्रेयर या प्रार्थना नहीं है; वह जीवन में चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवनदर्शन है और संसार के सभी धर्मों का मूल है।

मनुष्यता की परिभाषा यदि एक ही शब्द में करने की आवश्यकता पड़े तो 'अहिंसा' के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द खोजना कठिन होगा, जो मानवता की गरिमा का संपूर्ण रूप से वहन कर सके।

अहिंसा की परिभाषा

हिंसा और अहिंसा की परिभाषा अपनी सुविधा के अनुसार नहीं हो सकती क्योंकि **'न हि भैषजमातुरेच्छानुकारि'** अर्थात् रोगी की इच्छा के अनुसार दवा नहीं दी जा सकती, वह रोग और उसकी प्रकृति के अनुसार डॉक्टर या वैद्य के विवेक के आधार पर ही दी जाती है; अतः हिंसा-अहिंसा के मूलस्वरूप को समझना आवश्यक है।

तत्त्वार्थसूत्र नामक पहली शताब्दी के संस्कृत ग्रन्थ में आचार्य उमास्वामी ने हिंसा की परिभाषा दी – **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'**[1] अर्थात् प्रमादभाव के कारण किसी प्राणी के प्राणों का घात करना, **हिंसा** है। यहाँ हिंसा का अर्थ, मात्र प्राणों का हरण करना ही नहीं है। गाली देना, पीटना, अङ्ग-भङ्ग करना, दु:ख देना इत्यादि के भाव एवं क्रियाएँ भी हिंसा के अन्तर्गत आती हैं। जैसे, एक मनुष्य भारत में रहता है और दूसरा मनुष्य अन्यत्र किसी दूसरे देश में रहता है। वह वहाँ बैठा-बैठा यहाँ रहने वाले व्यक्ति के प्रति अनिष्ट चिन्तन करता है, उससे यहाँ रहने वाले व्यक्ति का अनिष्ट होता है या नहीं – यह तो बाद का प्रश्न है, पर अनिष्ट चिन्तन करने वाला व्यक्ति निश्चितरूप से अशान्त व हिंसक होता ही है।

हिंसा का सम्बन्ध मूलतः व्यक्ति की अपनी वृत्तियों या भावों से है। वृत्तियों के पतन से हिंसा अवश्यम्भावी है। जहाँ वृत्ति सम्यक् होती है, वहाँ हिंसा नहीं होती। इस तत्त्व को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि हिंसा का अर्थ है – मन, वाणी और काया का अनियन्त्रण अर्थात् प्रमाद। मन, वाणी और काया पर विवेक का अंकुश न रहे – यह हिंसा है, जबकि अहिंसा है – मन, वचन और काया का संयम अर्थात् अपनी हर प्रवृत्ति पर विवेक का अंकुश।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र 7.13

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा है '**अहिंसा**'। अहिंसा सभी धर्मों का सार है। अहिंसा से शून्य धर्म, प्राण विहीन शरीर के समान है। अहिंसा की परिभाषाओं की परिधि इतनी अधिक विस्तृत है कि कहीं-कहीं उसका केन्द्र भी अदृश्य-सा हो जाता है।

एक दृष्टि से यह एक विशाल राजपथ है लेकिन दूसरी दृष्टि से इसे सँकरी पगडण्डी से उपमित किया जाता है। यह एक ऐसी पगडण्डी है, जिसके दोनों ओर गहरी घाटियाँ हैं। पर्वतारोही जब पगडण्डी के सहारे ऊपर चढ़ता है, तब दोनों तरफ की गहरी घाटियों में उसे क्षण-क्षण खतरों की सम्भावना बनी रहती है, थोड़ा-सा ध्यान बँटते ही पैर फिसल सकता है। इसी प्रकार अहिंसा का पथ भी तलवार की धार से भी अधिक सकरा है, इस स्थिति में कोई साहसी व्यक्ति ही इस पर चलने का साहस कर सकता है।

यह बात सही है कि शुद्ध अहिंसा का मार्ग आसान नहीं है, पर यह भी उतना ही सच है कि इस पथ पर आगे चले बिना कोई भी महान् नहीं बन सकता। विश्व का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जितने भी व्यक्ति महान बने हैं, उन्हें अहिंसा का आश्रय लेना ही पड़ा है। अहिंसा की व्यापकता, महनीयता और उपयोगिता हमें प्रेरित करती है कि उसके स्वरूप का एक सार्वभौमिक विश्लेषण हो, जो उसे सार्थक और समुचितरूप से परिभाषित कर सके।

दशवीं शती के आचार्य अमृतचन्द्र ने अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या के लिए संस्कृत भाषा में एक ग्रन्थ लिखा है - '**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**'। इस ग्रन्थ में अहिंसा की एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक परिभाषा प्राप्त होती है -

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।[1]

अर्थात् आत्मा में राग-द्वेष आदि विकारीभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है और उन रागादि विकारीभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है।

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-४४

यदि आत्मा या मन में हीनभाव जन्म ले रहे हैं तो समझ लें कि निश्चितरूप से हिंसा हो रही है और यदि आत्मा अपने शुद्धस्वभाव में अवस्थित है, वहाँ राग-द्वेषादि भावों की हिलोरें नहीं हैं तो निश्चित ही वहाँ अहिंसा है। इस परिभाषा को केन्द्र में रखकर ही सम्पूर्ण 'अहिंसादर्शन' की व्याख्या की जा सकती है। यदि केन्द्र में यह परिभाषा नहीं रहेगी तो अहिंसादर्शन अपने मूल उद्देश्य से भटक सकता है। अहिंसादर्शन का मूल उद्देश्य है - सभी जीवों का कल्याण और आत्मिक शान्ति या आत्मानुभूति की प्राप्ति।

परिभाषा का आधार और पृष्ठभूमि

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि हिंसा-अहिंसा की इस परिभाषा का आधार आत्मा के अशुद्ध-शुद्धभाव क्यों हैं? - यह प्रश्न भी कोई नया नहीं है, बहुत पुराना है। इसका समाधान भी बहुत पहले ही खोजा जा चुका है क्योंकि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध जीवों के मरने या न मरने पर ही निर्धारित नहीं है, उस पर निर्धारित किया भी नहीं जा सकता। यही कारण है कि उक्त परिभाषा का आधार व्यक्ति के भीतर खोजा गया। यदि दूसरे के मरने या न मरने के आधार पर हिंसा-अहिंसा की चर्चा करेंगे तो कोई भी, कभी भी पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकेगा।

चूंकि सम्पूर्ण जगत् जीवों से भरा पड़ा है। इस जगत् के प्रत्येक छोटे से छोटे भाग में असंख्य-अनन्त दृश्य-अदृश्य जीव भरे पड़े हैं तो फिर उनकी हिंसा से कैसे और किस प्रकार बचा जा सकेगा? इसीलिए उत्तर आया कि बचने का साधन तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी आत्मा ही अहिंसा है और तुम्हारी आत्मा ही हिंसा है। आत्मा यदि अप्रमत्त है, राग-द्वेष से परे है तो अहिंसा है और यदि आत्मा प्रमत्त है, राग-द्वेष से युक्त है तो हिंसक है।[1] अहिंसा का हेतु है - अप्रमाद, जबकि हिंसा का हेतु है - प्रमाद। वास्तव में अहिंसा की भाषा और परिभाषा में विवेक करना अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए।
   जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो।। -भगवती आराधना-803

अहिंसा की भाषा दूसरे के प्राणों को नहीं लेने से जुड़ी है जबकि उसकी परिभाषा अप्रमत्तभाव से जुड़ी है। दूसरे को दु:ख नहीं देना, उनके प्राण नहीं लेना – यह अहिंसा की भाषा है और राग-द्वेषभाव से रहित अप्रमत्त होना – यह अहिंसा की परिभाषा है।

अहिंसा : निषेधात्मक (Negative) या विधेयात्मक (Positive)?

'अहिंसा' एक नकारात्मक शब्द है। मूल शब्द है 'हिंसा'। इसके आगे 'अ' जोड़ने से हिंसा का विरोध हो जाता है। 'न हिंसा अहिंसा'– यह तो मात्र एकाङ्गी निषेधात्मक दृष्टिकोण है। प्रश्न हो सकता है कि मात्र क्या नहीं मारना, नहीं सताना, दु:ख नहीं देना इत्यादि 'नहीं करना' ही अहिंसा है? या फिर अहिंसा के साथ कुछ 'करना' भी जुड़ा है? नहीं करना-नहीं करना की भाषा मनुष्य को विचलित भी कर देती है। कर्मशील मनुष्य को क्या करना? कैसे करना? कब करना? की भाषा ज्यादा रुचिकर लगती है।

अहिंसा को सर्वाङ्गीणरूप से समझने के लिए इसके विधेयार्थ और निषेधार्थ, दोनों रूपों को समझना जरूरी है। अहिंसा के सन्दर्भ में 'किसी प्राणी के प्राणों का वियोजन नहीं करना' – इसका जितना मूल्य है, उससे अधिक मूल्य है– 'किसी भी प्राणी के प्रति अनिष्ट (असत्) चिन्तन नहीं करना' तथा उसकी रक्षा करना।

असत् विचार, असत् वचन एवं असत् प्रवृत्ति तीनों हिंसा हैं। जितना भी झूठ बोला जाता है, वह हिंसा की प्रेरणा से ही बोला जाता है। असत् विचार या चिन्तन और असत् वाणी की तरह असत् प्रवृत्ति या व्यवहार भी हिंसा है, चाहे वह किसी के भी प्रति हो। मनुष्य की प्रवृत्ति सत् एवं असत्, दोनों ही प्रकार की होती है। जिस प्रवृत्ति के साथ असत् शब्द का प्रयोग होता है, वह हिंसा से संयुक्त होती ही है।

दूसरों के प्रति द्वेष या ईर्ष्या की भावना, उन्हें गिराने का मनोभाव और उनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को रोकने के सारे प्रयत्न, हिंसा में अन्तर्गर्भित हैं। दूसरों के मन में भय उत्पन्न करना, उनके सामने दु:खद परिस्थितियाँ

उभार देना, उनके विकास के मार्ग में बाधा पहुँचाना आदि प्रवृत्तियाँ भी हिंसा की परिधि में समाविष्ट हैं। इन प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध अहिंसा का आदर्श है। यह अहिंसा का नकारात्मक (Negative) पक्ष है।

अपने सकारात्मक (Positive) पक्ष में 'अहिंसा' समता, करुणा, मैत्री, संयम, शान्ति आदि उदात्तवृत्तियों से अनुबन्धित है। यहाँ अहिंसा का वाच्यार्थ 'न मारने' तक की सीमा में आबद्ध नहीं है लेकिन जहाँ यह प्रतिबद्धता जुड़ जाती है, वहाँ अहिंसा का व्यापक अर्थ एक छोटे से दायरे में समा जाता है। समता का धरातल असीम है। मैत्री की पौध इसी धरातल पर फली-फूली रह सकती है, इससे अपनी ही तरह दूसरों को भी समझने की भावना विकसित होती है। इससे प्रेरित व्यक्ति ही अहिंसा को समझ सकता है और उसका पालन कर सकता है।

शास्त्रों में अहिंसा के अनेक नाम गिनाये गये हैं। मैत्री, समता, शान्ति, बन्धुत्व, अभय, अप्रमाद, विशुद्ध प्रेम या करुणा - ये सब अहिंसा के ही पर्यायवाची हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अहिंसा केवल नकारात्मक नहीं है, उसका सकारात्मक स्वरूप भी बहुत व्यापक है। यद्यपि शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर उसका अर्थ नकारात्मक है किन्तु उसकी परिभाषा में जितना व्यापक नकारात्मक अर्थ गर्भित है, उतना ही व्यापक सकारात्मक अर्थ भी प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार किसी को न मारना, न सताना, अहिंसा की परिभाषा में अभिधेय है; उसी प्रकार मैत्री और बन्धुत्व का बर्ताव रखना भी उसकी परिभाषा में समाविष्ट है। अहिंसा, विधेयात्मक और निषेधात्मक, दोनों पहलुओं का एक समान दृष्टि से अवलोकन करती है। अहिंसा के केवल निषेधात्मक रूप को लेना, वास्तव में उसकी एकाङ्गी व्याख्या है।

अहिंसा केवल निवृत्तिमूलक नहीं है प्रवृत्ति मूलक भी है। वह केवल सिद्धान्त नहीं - जीवन प्रयोग भी है। वह बुद्धि विलास का साधन नहीं बल्कि भावनात्मक विकास का सात्विक साधन है जिसका सम्बन्ध सह-अस्तित्त्व से जुड़ा हुआ है।

द्वितीय अध्याय

विभिन्न धर्मों में अहिंसा

विश्व में जितने भी धर्म, दर्शन या सम्प्रदाय हैं, सभी ने अहिंसा जैसे महान् धर्म के बारे में अपनी-अपनी तरह से चिन्तन किया है। इस दृष्टि से अहिंसा सार्वभौमिक भी है। हम अहिंसा को किसी एक धर्म की उपज या मान्यता नहीं कह सकते। यह तो आत्मा का धर्म है। जो भी आत्मा को मानता है, वह किसी न किसी रूप में अहिंसा को भी स्वीकृति देता है। यह अवश्य है कि किसी धर्म ने तो अहिंसा की विस्तृत व्याख्या की और किसी ने अपेक्षाकृत संक्षिप्त और अपनी सुविधानुसार, किन्तु अहिंसा के बारे में सोचा सभी ने और अपनी-अपनी शैली में उसे व्याख्यायित भी किया। यही कारण है कि मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म 'अहिंसा' मान्य किया गया।

भारत इस विषय में अग्रणी देश है। भारत की आत्मा 'अहिंसा' रही है। जो लोग अहिंसा को बिल्कुल जानते तक नहीं थे, उन्होंने भारत आकर अहिंसा को सीखा, उससे प्रभावित हुए और उसे अपनाया। इसलिए भारत का अहिंसा सन्देश, भारत के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में दिखायी देता है, इसी के बल पर आज भी यह सम्पूर्ण विश्व को शान्ति का पाठ पढ़ा रहा है।

भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में फैले हुए धर्मों में 'अहिंसा की गूँज' किसी न किसी तरह सुनाई देती है। कुछ प्रमुख धर्मों में अहिंसा का विचार किस प्रकार प्रस्फुटित हुआ? अब, उसी का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है -

वैदिकधर्म और अहिंसा

संसार की प्राचीन सभ्यताओं में से एक वैदिक सभ्यता भी है। वैदिक-परम्परा का प्रारम्भिक स्रोत वेद है। इसमें वेद को ईश्वर की वाणी माना जाता है तथा इसका रचयिता किसी पुरुष को नहीं माना जाता, इसलिए इसे अपौरुषेय कहा जाता है। यह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी का अद्भुत सङ्कलन है, इसमें ऋषियों ने प्रार्थना के रूप में अहिंसा शब्द का प्रयोग किया है –

'अहिंसन्ती'[1] तथा 'अहिंसन्तीरमानया'[2]

इस परम्परा में वेदों को सबसे अधिक पवित्र ग्रन्थ माना जाता है, जिसका एक अर्थ 'ज्ञान' है। इसीलिए वेद को ज्ञान का भण्डार माना जाता है। वेदों की संख्या चार है-(1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) अथर्ववेद और (4) सामवेद। इनमें ऋग्वेद को विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक कहा जाता है।

अहिंसक मित्र की कामना से ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं-[3]

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥

अर्थात् हम अभिगमन (सङ्गति) प्राप्त करें। मित्रभूत या मित्र के द्वारा दिखाये हुए मार्ग पर हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें घर में प्राप्त हो।

शान्ति की भावना का व्यापक स्वरूप हमें यजुर्वेद के शान्तिमन्त्र में दिखायी देता है, जिसमें कामना की गयी है कि द्युलोक रूप, अन्तरिक्ष लोकरूप, भूलोकरूप, जलरूप, औषधिरूप, वृक्षरूप, सर्वदेशरूप, वेदत्रयीरूप, सर्वगरूप, तथा स्वरूपतः जो शान्ति है, वही शान्ति मेरे लिए हो।

---

1. ऋग्वेद, 10/12/13
2. अथर्ववेद, 9/9/13
3. ऋग्वेद, 5/64/3

यजुर्वेद का मन्त्र इस प्रकार है –

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी,
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयःशान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म
शान्तिः, सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[1]

इसी प्रकार वेदों के अनेक मन्त्रों, ऋचाओं में अहिंसादर्शन की भावनायें समाहित मिलती हैं। वेदों के बाद उपनिषद् साहित्य में भी अहिंसा और शान्ति की व्यापक चर्चा हुई है। छान्दोग्योपनिषद्[2] में तप, दान, आर्जव (सरलता) अहिंसा और सत्य को आत्मयज्ञ की दक्षिणा माना है। शाण्डिल्योपनिषद् में दश यम की चर्चा करते हुए अहिंसा को प्रथम स्थान पर रखा है। अन्य उपनिषदों में भी अहिंसा की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं।

स्मृति साहित्य में भी अहिंसा सम्बन्धी भावनायें जगह-जगह व्यक्त की गई हैं। इनमें मनुस्मृतिकार ने माँस नहीं खाने वालों को उतना ही पुण्यवान् माना है, जितना पुण्य किसी व्यक्ति को सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करने पर प्राप्त होता है –

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत् शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥[3]

अहिंसा की व्याख्या में यह भी कहा गया है कि प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसा का पूर्ण अनुशासन जरूरी है। इन्द्रियनिग्रह (संयम), राग-द्वेष परित्याग और अहिंसा के आचरण से संन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।

इसी प्रकार रामायण और महाभारत में भी अहिंसाधर्म की विस्तृत

1. यजुर्वेद, 36/17
2. छान्दोग्योपनिषद् 3/17/4
3. मनुस्मृति 5/53 (विशेष देखें 5/11 से 56 तक)

व्याख्या है। महाभारत में अहिंसा की व्यापकता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि अहिंसा परमतत्त्व, परमधर्म, परमतप, परमसत्य, और अन्यधर्मों का उद्‌गमस्थल है।[1]

इस प्रकार अहिंसा की अनेक स्थलों पर व्यापक व्याख्या की गई है। गीता में श्रीकृष्ण ने अहिंसा को तप तथा मुक्ति का साधन माना है।

अठारह पुराणों में भी अहिंसा का विशद विवेचन है। गरुणपुराण[2] में कहा गया है कि मन, वचन और कर्म से सभी जीवों के प्रति हिंसा के निवृत्त होना परम सुखकारी अहिंसा धर्म है–

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
हिंसाविरामको धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।।

मत्स्यपुराण में तो अहिंसा की महिमा बतलाते हुए यहाँ तक लिखा है कि चार वेदों के गम्भीर अध्ययन या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है, उससे कई गुना अधिक पुण्य अहिंसाव्रत के पालन से होता है।

चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं पुण्यं सत्यवादिषु।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत्फलम्।।[3]

अहिंसा को परम धर्म[4] मानने वाले वेदाचार्य यज्ञों में पशु बलि का समर्थन कैसे कर सकते है? फिर भी यज्ञ कार्य में पशु बलियाँ हुयी हैं। तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर उसे उचित भी ठहराया गया है। फिर भी वैदिक साहित्य में इस बात पर भी खुलकर चर्चा हुयी है कि कहीं वेदों में जो अज आदि का उल्लेख है उसका कोई और अर्थ (जो कि पशु से इतर हो)

---

1. महाभारत, अनुशासनपर्व, 23, 28, 30, 115, 116
2. गरुण पुराण, 1/229/14
3. मत्स्यपुराण 105/48
4. अहिंसा परमो धर्म इति वेदेषु गीयते। –पद्मपुराण 6, उत्तर, 64/63–64 तथा महाभारत – 13/116/28

तो नहीं?[1]

महाभारत में कहा है कि मनु ने सभी कार्यों में अहिंसा का प्रतिपादन किया है। यज्ञ में पशुबलि आदि लोगों की मनमानी/स्वच्छन्दता के कारण होती है।[2]

न वधः पूज्यते वेदे, हितं नैव कथंचन।[3]

अर्थात् वेद में हिंसा की प्रशंसा नहीं की गई है। हिंसा से किसी प्रकार का हित/कल्याण भी नहीं हो सकता।

इस महत्त्वपूर्ण विषय पर डॉ. कृष्णा आचार्य ने अत्यन्त श्रम पूर्वक अपने शोध ग्रन्थ 'पशु यज्ञ मीमांसा' पर गहराई से विचार-विमर्श किया है।

योगदर्शन में 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा की विशद व्याख्या प्राप्त होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक-परम्परा में अहिंसा का महत्त्व भिन्न-भिन्न स्थलों पर बतलाया गया है, यहाँ उसका संक्षिप्त विवेचन ही किया गया है। यदि हम उनका विस्तृत अध्ययन करेंगे तो अहिंसा का और अधिक विशद विवेचन प्राप्त हो सकता है।

बौद्धधर्म और अहिंसा

बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ईसापूर्व छठी शताब्दी में जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के समकालीन हुए हैं। इस धर्म का

---

1. बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुति। अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ।।
   – महाभारत शान्तिपर्व, 337/4
   तथा, एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेः न जानन्ति। तत्र किल एतदुक्तम् – 'अजैः यष्टव्यम्', अजा-व्रीहयः तावत् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्तेः, पुनःपशुविशेषाः। – पञ्चतन्त्र, 3/106 के बाद गद्य
2. सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
   कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः। –महाभारत 12/265/5
3. महाभारत – 6/3/54

जन्म भले ही भारत में हुआ हो किन्तु यही एक ऐसा भारत का धर्म है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के विविध अञ्चलों में सर्वाधिक रहा है। आज भी यह दुनिया के अनेक राष्ट्रों का राष्ट्रीय धर्म है।

बौद्धधर्म में आरम्भ से ही अहिंसा की प्रधानता रही है। यह धर्म भी कोरे क्रियाकाण्ड तथा यज्ञों में पशुबलि इत्यादि का सदा से विरोधी रहा है। बौद्धधर्म के पालि भाषा में रचित पवित्र ग्रन्थ 'त्रिपिटक' माने जाते हैं। त्रिपिटकों में अहिंसाधर्म की विस्तृत व्याख्या की गई है। संयुक्तनिकाय में स्पष्ट लिखा है कि मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाए। धम्मपद का वाक्य है कि अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिए प्रेरित करता है।[1] विनयपिटक के अनुसार अहिंसा का पथिक स्थूल जीवों को ही नहीं बल्कि पेड़-पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता है।

महात्मा बुद्ध ने 'आर्य' की व्याख्या में अहिंसक व्यक्ति को ही स्वीकार किया है। अहिंसा को आर्य का लक्षण बतलाते हुए वे कहते हैं -

न तेन आरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वपाणानां, आरियो ति पवुच्चति॥[2]

अर्थात् प्राणियों की हिंसा करने से कोई भी व्यक्ति आर्य नहीं कहला सकता बल्कि जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही वस्तुतः आर्य है।

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को शील के अन्तर्गत अहिंसक रहना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्य बोलना तथा नशीले पदार्थों के परित्याग का उपदेश दिया है; ये सभी बातें भिक्षुओं के लिए आवश्यक हैं। भगवान बुद्ध ने मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं पर बहुत बल दिया है - ये भावनाएँ अहिंसा का ही प्रतिफलन हैं।

1. धम्मपद, 25/9-10
2. धम्मपद, 19/15

संयुक्तनिकाय में महात्मा बुद्ध ने राजा से कहा – ''राजन्! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्हें अपने से प्यारा कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा। जैसे, तुम्हें अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। जो अपनी भलाई चाहते हैं, वे दूसरों को भी कभी नहीं सताते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्रीभावना बढ़ाना चाहिए; अतः तुम सदा मन में यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों।''

बुद्ध ने जन्म से किसी को क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र नहीं माना। उनका कहना था कि जिसके अन्तर्मन में सभी प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसे वृषल अर्थात् शूद्र समझना चाहिए –

यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति।[1]

वे कहते हैं – जैसा मैं हूँ, वैसे ही विश्व के सभी प्राणी हैं और जैसे वे सभी प्राणी हैं, वैसा ही मैं भी हूँ। इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर, न किसी का वध करें, न दूसरों से वध कराएँ –

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्त्वा, न हनेय्य न घातये॥[2]

संयुक्तनिकाय में पशुवध को लेकर महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वहाँ इस कार्य को ही सभी रोगों का कारण माना है –

तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारंभा, अट्ठानवुतिमागमु॥[3]

अर्थात् पहले विश्व में केवल तीन ही रोग थे – इच्छा, भूख और जरा किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अट्ठानवे नये रोग पैदा हो गए।

तथागत बुद्ध ने राजा प्रसेनजित् को यज्ञहिंसा के लिए रोकते हुए

1. सुत्तनिपात, 1/7/21
2. सुत्तनिपात, 3/37/27
3. संयुक्त निकाय 1/3/15

कहा था – ''राजन्! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। यदि तुम्हें यज्ञ ही करना है तो ऐसा यज्ञ करो, जिसमें भेड़-बकरे और गायें न कटतीं हों – ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।''

सुत्तनिपात में महात्मा बुद्ध कहते हैं – ''जङ्गम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पद्यमान, जितने भी प्राणी हैं, वे सभी सुखपूर्वक रहें; वे किसी के साथ वञ्चना न करें, न किसी का अपमान करें; वे सभी प्राणियों को उसी प्रकार देखें, जैसे, माता अपने इकलौते पुत्र को देखती है।''

एक बार कुछ बालक साँप को मार रहे थे, तब बुद्ध ने उन्हें समझाते हुए कहा – ''जो अपने सुख के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं, वे मरने के पश्चात् भी सुखी नहीं होते।''

तथागत बुद्ध ने मैत्रीभावना पर अधिक बल दिया था, उनका मानना था कि जिसमें मैत्रीभावना का विकास होता है, वह सुरक्षित रहता है। जैसे, किसी कुल में अधिक पुरुष हों और महिलाएँ कम हों, वह कुल हमेशा तस्करों के भय से मुक्त रहता है; वैसे ही जहाँ मैत्रीभावना प्रबल होती है, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। उनका कहना था कि सभी प्राणी वैर से रहित हों, कोई भी वैर न रखे। सभी प्राणी सुखी हों, कोई दु:ख न पाये। मन ज्यों-ज्यों हिंसा से हटता है, त्यों-त्यों दु:ख शान्त होता है।

महात्मा बुद्ध का जीवन एक महाकारुणिक का जीवन था। दीन-दु:खियों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता था। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये, जिनमें अहिंसात्मक प्रतिकार रहे हैं। उनके अहिंसात्मक प्रतिकार से हजारों प्राणियों के उबलते खून रुक गये। महात्मा बुद्ध ने हिंसा का विरोध किया और अहिंसा जैसे महान धर्म को अपनाया। सम्राट् अशोक आरम्भ में एक निर्दयी सम्राट था, हृदय-परिवर्तन के बाद उसने मानव-कल्याण के लिए अनेक कार्य किये। वह महात्मा बुद्ध के जीवनदर्शन से प्रभावित होकर बौद्धधर्म का अनुयायी

बना। इस प्रकार अहिंसाधर्म की प्रतिष्ठा में महात्मा बुद्ध ने बहुत योगदान दिया था।

सिक्खधर्म और अहिंसा

सिक्खधर्म का उदय भी भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म और दर्शनों की जो प्रमुख विशेषताएँ थीं, उनको श्रीगुरु नानकदेव ने समझा तथा उन्हीं विशेषताओं को लेकर सिक्खधर्म का प्रारम्भ हुआ।

गुरु नानकदेव ने देश-विदेश में घूमकर अपने समय के बड़े-बड़े योगियों और साधकों की सङ्गति की। वे बगदाद भी गये, वहाँ उनकी याद में एक मन्दिर भी है।

गुरु नानकदेव ने जो पन्थ चलाया, वह 'सिक्खपन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन सन्तधारा में गुरु नानक निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जाति-पाँति और मूर्तिपूजा को नहीं मानते थे। यह धर्म सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, शराब और तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों का भी निषेध करता है।

गुरु नानकदेव के वचनों को सर्व प्रथम गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' लिपि में लिखा। उसी समय से यह लिपि प्रारम्भ हुई। सिक्खों के पवित्र धर्मग्रन्थ 'गुरु-ग्रन्थसाहिब' का सङ्कलन एवं सम्पादन सन् 1604 ई0 में गुरु श्री अर्जुनदेव ने किया था।

सिक्खधर्म में कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग - इन चार मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। कर्ममार्ग को दो भागों में विभक्त किया है - बन्धनप्रदकर्म और मोक्षप्रदकर्म। मोक्षप्रदकर्म में हरिकीर्तन, आध्यात्मिक चिन्तन आदि कर्म आते हैं। सिक्खों ने सदैव यज्ञ के नाम पर होनेवाली हिंसा का विरोध किया। हिंसा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है -

जोग न हिंसा जोग न डंडे ....
एक दृष्टि कर समसरु जागे, जोगी कहिये सोइ॥

अर्थात् हिंसा करने, भस्म लगाने, सिर मुँडा देने से योग नहीं होता है; योग उसी को होता है, जिसकी दृष्टि में समभाव हो। समभाववाला व्यक्ति ही वास्तविक योगी है।

अहिंसा के सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुरु नानकदेव ने कहा – ''जो सबकी भलाई करता है, वही महान है। सबकी भलाई करना, बिना अहिंसा सिद्धान्त को अपनाए सम्भव नहीं है।''

नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सवर्त्त का भला॥

अहिंसा की निर्मलभावना से प्रेमभाव की वृद्धि होती है। गुरु गोविन्द सिंह ने प्रेम की महत्ता बताते हुए कहा कि बिना प्रेम के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकता।

साच कहहुँ, सुनि लेहु सबहि।
जिन प्रेम कियो, तिन्ही प्रभु पायो॥

गुरु अर्जुनदेव ने कहा है कि विश्व को अपना समझो। मेरा न कोई शत्रु है, न अपरिचित ही। मेरे लिए सभी समान हैं। मेरी सबसे बनती है।

ना को बैरी, न ही बेगाना।
सकल संगि, हमको बन आई॥

गुरु-ग्रन्थसाहिब में माँस खाने का निषेध किया गया है – जैसे, रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त माँस खाने से मन मैला हो जाता है; इसीलिए माँस ग्रहण करना दोषपूर्ण है।

जे रत लागे कपड़े, जामा होय पलीत।
जे रत पीवै मांसा, तिन क्यों निर्मल चीत॥[1]

सिक्खधर्म में भी सात्त्विक भोजन पर बल दिया जाता है। अहिंसा

1. गुरु ग्रन्थसाहिब, 15-140

की भावना वहाँ भी पनपी है। सिक्खधर्म ने अन्याय को सहन करना भी हिंसा माना है; इसीलिए उसके प्रतिकार के लिए सतत तैयार रहना चाहिए। उनकी यह भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे सम्प्रभुता स्थापित करने के उद्देश्य से अथवा युद्ध के लिए युद्ध नहीं करना चाहते थे। प्रत्येक सिक्ख को हाथ में कड़ा पहनने का विधान यम, नियम और संयम का प्रतीक है, इसमें अहिंसादि सभी भावनाएँ गर्भित हैं।

ईसाई धर्म और अहिंसा

ईसाईधर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे, जिन्हें 'ईसा मसीह' कहा जाता है। 'ईसा' शब्द जीसस से निकला है। ईसा मसीह को 'ख्रीष्ट' भी कहा जाता है। 'ख्रीष्ट' शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अर्थ है – जो अभिषिक्त (Enthroned) है। यहूदी लोगों में पुजारियों और राजाओं का अभिषेक किया जाता था और इसलिए ईसा को 'मसीह' कहा गया है क्योंकि ईश्वर ने उसे विशेषरूप से चुनकर अभिषिक्त किया था। वर्तमान युग में विश्व के विविध अञ्चलों में यह धर्म फैला हुआ है।

ईसा ने कहा – ''तुम अपनी तलवार म्यान में रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सभी तलवार से नष्ट किये जाएँगे। किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।''

ईसा का स्पष्ट मानना था कि 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त सर्वथा अनुचित है। 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत और सिर के बदले सिर' – इस सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता, इससे शान्ति प्राप्त नहीं होती। उन्होंने आगे चलकर कहा – ''पड़ौसी को प्यार करो और शत्रु से घृणा करो – इस नीति पर ध्यान न दो, बल्कि शत्रु से प्यार करो। जो तुम्हें शाप दे, उसे तुम वरदान दो; जो तुम्हारा बुरा करे, उसका तुम भला करो; जो तुमसे ईर्ष्या करता है, तुम पर अभियोग लगाता है, उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्तभावना करो कि उसके विचारों में परिवर्तन आ जाए।''

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया – "वस्तुत: प्रेम ही ईश्वर है, वही अहिंसा है; प्रेम के अभाव में अहिंसा नहीं हो सकती। जहाँ पर द्वेष का दावानल सुलग रहा हो, प्रतिकार की भावनाएँ पनप रही हों, वहाँ प्रेम और विनम्रता नहीं रह सकती। जहाँ पर विनम्रता और विश्वबन्धुत्व का साम्राज्य है, वह एक प्रकार से ईश्वरीय राज्य है।" उन्होनें कहा कि सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि 'तू अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम रख'।[1]

ईसाईधर्म में सेवा का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि यहाँ ईश्वर सेवा का अर्थ है – मानव-समाज की सेवा। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान, शुष्कज्ञान है। ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों को जीवन के लिए आवश्यक माना है। बाइबिल के नये धर्म-नियम यूहन्ना[2] में स्पष्ट लिखा है कि 'यहूदियों ने उससे कहा, हमें अधिकार नहीं कि किसी का प्राण लें।'

इस तरह ईसाईधर्म में अहिंसा की भावनाएँ, मानव-सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई हैं। बाइबिल आदि अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईसा अहिंसा के समर्थक थे। बीसवीं एवं इक्कीसवीं शती के वरिष्ठ एवं सुप्रसिद्ध पूज्य दिगम्बर जैन आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने एक पुस्तक सन् 1966-67 में लिखी थी जिसका नाम है 'महात्मा ईसा'। उन्होंने लिखा है कि 'शोधकों ने इस बात को प्राय: स्वीकार कर लिया है कि मसीह के उपदेशों का मूल उद्गम भारत है।

भारतीय श्रमण संस्कृति और यहां के तत्कालीन साधु विद्वानों के सम्पर्क में आकर ईसा ने जिस अति-भौतिक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया, उसी का मन्थन उनकी उन उपदेशनाओं में मुखरित हुआ है। महात्मा ईसा के वे उपदेश, जो भगवान महावीर के अहिंसा धर्म के अति समीप एवं उससे अत्यन्त प्रभावित हैं, उस काल के पुराणपन्थी, अर्थ लोलुप पुजारियों

---

1. बाइबिल, मत्ती, 22/39
2. यूहन्ना, 18/31

को अपने निहित स्वार्थों के हक में अच्छे नहीं लगे, फलतः ईसा को कुरुढ़ियों के जमे-जमाये मोर्चे से यावज्जीवन लोहा लेना पड़ा।[1]

सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान् डॉ. नोतोविच ने चालीस वर्षों के अनुसन्धान के बाद अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Unknown Life of Jesus' में यह प्रमाणित किया है कि ईसा अपने जन्म के तेरहवें वर्ष में चुपचाप घर से निकल गये और कुछ सौदागरों के साथ सिन्ध होते हुये हिन्दुस्तान पहुँच गये, यहाँ उन्होंने जगन्नाथ, वाराणसी, राजगृह और कपिल-वस्तु में भ्रमण किया। बौद्धों से बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया और बहुत दिनों तक जैन साधुओं के साथ रहे।

श्री सावरकर द्वारा रचित पुस्तक 'मराठी-खिस्त परिचय' में लिखा है कि 'कांही दिवस तो जैन साधु बरोबर रहिला'[2]। प्रसिद्ध यहूदी विद्वान् जाजक्स ने लिखा है कि 'हजरत ईसा ने पैलस्टाइन में चालीस दिनों का उपवास किया था। यह उपवास की प्रेरणा उन्हें भारतीय जैन क्षेत्र पालीताना में जैन-श्रमणों के साथ रहते समय मिली। नागेन्द्रनाथ बसु ने हिन्दी-विश्वकोश में लिखा है कि ईसा ने जैन श्रमणों के निकट रहकर शिक्षा पायी थी।'[3] पं. सुन्दरलाल ने लिखा है कि 'भारत में आकर हज़रत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के साथ रहे। जैन साधुओं से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार-विचार की मूल भावना प्राप्त की।[4]

इन सन्दर्भों तथा सूचनाओं से ज्ञात होता है कि हजरत ईसा ने जो अहिंसात्मक उपदेश दिये हैं उस पर भारतीय धर्मों का स्पष्ट प्रभाव रहा है।

यहूदीधर्म और अहिंसा

यहूदी धर्म एक प्राचीन पैगम्बरी (Prophetic) धर्म है। यद्यपि विश्व में यहूदी धर्म मानने वालों की संख्या ज्यादा नहीं है किन्तु ये विश्व के

---

1. महात्मा ईसा - विद्यानन्द मुनि, सन् 1966-67, पृ. 2-3
2. 'मराठी-खिस्त परिचय' - सावरकर, पृ. 88
3. हिन्दी विश्वकोश, भाग-3, 1919, पृ. 128
4. हजरत ईसा और ईसाई धर्म, पं. सुन्दरलाल, पृ. 162

सभी कोने में पाये जाते हैं और जहाँ भी ये रहे हैं, वहाँ इन्होंने उस देश के सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास में विशेष योगदान दिया है।

यहूदी धर्म में इब्राहिम पैगम्बर कुलपिता कहे जा सकते हैं, उनके बाद हजरत मूसा को यहूदी धर्म का संस्थापक माना जाता है। मूसा के ही द्वारा यहूदियों को तौरेत (Torah) दिया गया, जिसमें उनके जीवन-सञ्चालन के सभी नियम और आज्ञाएँ दी गयी हैं। मूसा-संहिता को ई0 पू0 444 में एजरा पुजारी ने वर्तमान रूप दिया था। इस मूसा-संहिता को पञ्चग्रन्थ (Penta Teuch) कहते हैं।

यहूदी, तौरेत (Torah) को अपना पवित्र ग्रन्थ समझते हैं, जिसमें लिखित और मौखिक, दो प्रकार की बातें अन्तर्निहित हैं। रूढ़िवादी लिखित तौरेत को ही प्रामाणिक मानते हैं। तौरेत यहूदियों का जीवन है, जिससे वे ओतप्रोत कहे जा सकते हैं। इनके लिए तौरेत, पवित्र तथा धार्मिक परम्परा का सम्पूर्ण ग्रन्थ है।

यहूदी धर्म का उद्देश्य है कि वह विश्व-शान्ति का और समस्त जातियों में ईश्वरवाद के शुद्ध सन्देश का प्रचार-प्रसार करे। इनके अहिंसावादी सिद्धान्त बहुत लाभकारी हैं। इनका मानना है कि किसी व्यक्ति के आत्मसम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना।[1] वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा, जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव में वह भले ही उसे न मारे।[2] यदि तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आये और यदि वह भूखा-प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।[3]

बन्धुत्वभाव को विकसित करने की दृष्टि से इस धर्म में कहा गया

---

1. ता0 बाबा मेतलिया, 58 ब
2. सिफरा लैव्य, 19/2
3. नीति 25, 21, परमिदारास

है – बन्धुत्व का प्रेम, जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है, एतदर्थ अपने पड़ोसी को प्यार करो; उसके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे, उनसे ईर्ष्या न करो। जब तुम्हारे मानस में एक-दूसरे के प्रति स्नेह सौहार्दपूर्ण भाईचारे का भाव संस्थापित हो जाएगा तो सहज ही घृणा का भाव नष्ट हो जाएगा। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं, अतः सभी से स्नेह करो। पड़ोसियों से घृणा करना, ईश्वर से घृणा करने के समान है। यदि तुम्हारे भाई या पड़ोसी निर्धन हैं तो उन्हें तुम सहयोग करो। तुम अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना, यह एक प्रकार का सुकर्म है, सुकृति है।[3]

यहूदीधर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता को विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति आदि सद्गुणों पर अधिक बल दिया गया है। दया और प्रेम को उन्होंने ईश्वर माना है। क्रोध, विलास, अन्याय आदि दुर्गुणों को नष्ट करने की प्रेरणा दी है। उनका मानना है कि किसी व्यक्ति पर सङ्कट के बादल मँडरा रहे हों, उस पर हिंसक डाकू प्रहार कर रहे हों, शेर-चीते आदि जङ्गली पशु उस पर आक्रमण कर रहे हों, शेर-चीते आदि उस पर झपट रहे हों तो हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। यदि हमारा देहबल क्षीण हो, शारीरिक दृष्टि से हम उनका रक्षण करने में असमर्थ हों किन्तु यदि हमारे पास धन है तो हमें चाहिए कि धनबल से उनके प्राणों की रक्षा करें।[2] प्राणीमात्र के प्रति हमारे अन्तर्मन में किसी प्रकार का वैरभाव न हो।[3]

यहूदी पूर्णतया प्रकाशना-धर्म (Religion of Revelation) है, इसलिए यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने मूसा द्वारा मानव जाति के लिए दश आज्ञाएँ बताई हैं अर्थात् ये ईश्वर के वचन हैं – उनमें अन्तिम पाँच वचन अहिंसा की प्रगाढ़ भावना को अभिव्यक्त करते हैं –

---

1. Glimpses of World Religions, Page 157
2. ता0 सनहेद्रिन, अ0 73
3. तोरा-लैव्य व्यवस्था, 19-17

1. 'तू नर-हत्या न करना'। **(अहिंसा)**
2. 'तू व्यभिचार न करना'। **(ब्रह्मचर्य)**
3. 'तू चोरी न करना'। **(अचौर्य)**
4. 'तू अपने पड़ौसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत देता'। **(सत्य)**
5. 'तू अपने पड़ौसी की किसी वस्तु का लालच मत करना' **(अपरिग्रह)**

इन आज्ञाओं के माध्यम से परिवार और समाज को स्थिर रखने का पवित्र उद्देश्य है। इन अन्तिम पाँच आदेशों में जैनधर्म के पाँच व्रतों की स्पष्टत: प्रतिध्वनि भी परिलक्षित होती है।

यहूदीधर्म में विशेषकर यशायह नवी[1] के लेखों में अहिंसक भावना का उल्लेख प्राप्त हुआ है, उसमें लिखा है कि ''मसीह आएगा और दाऊद के सिंहासन पर फिर से विराजमान होगा। मसीह आकर इस संसार पर राज्य करेगा और समस्त मानव जाति का उद्धार करेगा। इस मसीही राज्य में न पाप होगा और न शोक। शेर हिंसा छोड़कर बकरी के साथ घास खाएगा। भेड़िया और मेमना, दोनों एक साथ एक ही घाट पर पानी पिएँगे।''

यहूदी इसी शान्ति सन्देश के आधार पर साम्यवादी शोषणविहीन राज्य की कल्पना करते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर श्रम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार सभी सामग्रियों का उपभोग करेगा। अत: यहूदी किसी न किसी प्रकार से मरणोत्तर जीवन पर विश्वास रखते हैं और प्राय: यही समझते हैं कि न्याय दिवस भी अवश्य आएगा, जहाँ व्यक्ति अपने बुरे कर्मों के अनुसार अनन्त दु:ख-भोग का भागी होगा।

यहूदियों में ईसीन (Essene) नाम का संघ था, जो किसी प्रकार की पशुबलि ईश्वर को नहीं चढ़ाते थे। वे अविवाहित रहकर अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते थे। ये मुनि पवित्र जीवन-यापन करते और मौन रहना अच्छा

---

1. लगभग ई0पू0 750-700

समझते थे। ये सोना–चाँदी, घर–द्वार नहीं रखते थे और सन्यासियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे। ये शाकाहारी होते थे, अपरिग्रही होते थे।

यहूदी प्रकृति से भी बहुत प्यार करते हैं। हरे–भरे पेड़ पौधों के सम्मान में बसन्त की शुरुआत में 'तू बी शेवात' नामक त्यौहार मानते हैं। यह पेड़ों का न्यू ईयर है जिसे पौधे लगाकर मनाया जाता है। यहूदी का यह त्यौहार पेड़–पौधों के प्रति अहिंसक भावना तथा प्रकृति के प्रति लगाव का सन्देश देता है जो पर्यावरण के प्रति नितप्रतिदिन बढ़ रहे संकट के लिए एक अहिंसक समाधान है।

समझा जाता है कि यहूदी ईसीन लोग अहिंसा के पुजारी होते थे। याकू मसीह का मानना है कि सम्भवतः इन ईसीनियों पर पाइथागोरस के शाकाहार का और बौद्धों के संघीय जीवन का प्रभाव पड़ा था।

इस्लाम धर्म और अहिंसा

'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है। मुहम्मद अली की पुस्तक 'Religion of Islam' में इस शब्द की व्याख्या बताई गई है। इस्लाम शब्द का अर्थ है – 'शान्ति में प्रवेश करना'; अतः मुस्लिम व्यक्ति वह है, जो 'परमात्मा पर विश्वास और मनुष्यमात्र के साथ पूर्ण शान्ति का सम्बन्ध' रखता हो। अतएव इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा – 'वह धर्म, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है और मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम का व्यवहार करता है।' राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस्लामधर्म की विशेषताओं पर व्यापक प्रकाश डाला है।

इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मदसाहब माने जाते हैं, जिनका जन्म अरब देश के मक्का शहर में सन् 570 ई0 में हुआ था और मृत्यु सन् 632 ई0 में हुई। इस्लामधर्म के मूल कुरान, सुन्नत और हदीस नामक ग्रन्थ हैं। **कुरान** वह ग्रन्थ है, जिसमें मुहम्मद साहब के पास खुदा के द्वारा भेजे गये सन्देश सङ्कलित हैं। **सुन्नत** वह है, जिसमें मुहम्मद साहब के कार्यों का उल्लेख है और **हदीस** वह किताब है, जिसमें उनके उपदेश सङ्कलित हैं।

कुरान में प्रेम और अहिंसा से सम्बन्धित अनेक सन्देश हैं। इकबाल की पुस्तक 'Secret of the Self' की भूमिका में लिखा है – ''नबी ने कहा है, '**तखल्लिक्-बि-इखलाकिल्लाह**' अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणों का विकास कर। खुदा बन्दों को प्यार करता है और वे उसे प्यार करते हैं; इसलिए उसका एक नाम वदूद (प्रेमी) भी है।'' – यह कुरान का ही वचन है।

हदीस का वचन है कि ''ईमान की 70 शाखाएँ हैं। सबसे ऊँची यह कि अल्लाह को छोड़कर किसी की इबादत मत करो और सबसे नीची यह कि जिन बातों से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।''

कुरान का फातिहा नामक अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक तरह से यह कर्मफल के विवेचन का अध्याय है, इसमें प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज पाँच बार दिलाया जाता है। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कर्मफल पर विश्वास दृढ़ होने पर आदमी दुष्कर्मों को छोड़ देता है। कुरान कहता है – ''अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम अवश्य मिलेंगे। जिसने भी, कण मात्र भी सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आँखों से देखेगा; जिसने भी, कण मात्र भी दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आँखों से देखेगा।''

इस्लाम दर्शन में ग्यारहवीं शती में एक प्रख्यात चिन्तक हुए 'अबुल अरा' (सन् 1057)। अबुल अरा आवागमन के सिद्धान्त के विश्वासी थे। शाकाहारी तो थे ही, दूध, मधु और चमड़े का व्यवहार भी नहीं करते थे। पशु-पक्षियों के लिए भी उनके मन में दया थी। वे ब्रह्मचर्य और यतिवृत्ति का भी पालन करते थे।

इस्लामधर्म की मान्यता है कि जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। कुरान शरीफ के प्रारम्भ में अल्लाताला का विशेषण '**विस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीमि**' है, जिसका अर्थ है 'खुदा दयामय है अर्थात् खुदा के मन के कोने-कोने में दया का निवास है।'

मुहम्मदसाहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को सम्बोधित करते हुए कहा – ''हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत

बना।'' अर्थात् तू माँस का भक्षण मत कर। इसी प्रकार 'दीन ए इलाही' विचारधारा के प्रवर्तक सम्राट अकबर ने कहा – ''मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान नहीं बनाना चाहता।'' यदि किसी की जान बचाई तो मानों उसने सारे इन्सानों को जिन्दगी बख्शी है। कुरान शरीफ का वाक्य है –

'व मन् अह्या हा फकअन्नम् अह्यन्नास जमी अनः'।

कुरआन में अहिंसा सम्बन्धी आयतें–

मुझे प्रसन्नता है कि मुझे कुरआन पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। मक्तबा अल-हसनात, रामपुर (उ.प्र.) से सन् 1968 में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कुरआन मजीद, जिनके कुछ मूल सन्दर्भों का प्रयोग मैंने अपने ग्रन्थ में किया है, को ही मैंने पढ़ा है। इसी ग्रन्थ से मैंने कुछ आयतें चयनित की हैं जो अहिंसा की भावना को व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत हैं वे चयनित आयतें–

(1) काबा में लड़ना हराम है। (2:191)

(2) अल्लाह ने काबा को शान्ति का स्थान बनाया है। (28:57)

(3) नाहक़ खून न बहाओ और लोगों को घर से बेघर मत करो। (2:84)

(4) दूसरे के उपास्यों को बुरा न कहो। (6:108)

(5) निर्धनता के भय से औलाद का कत्ल न करो। (17:31)

(6) नाहक किसी को कत्ल न करो। मानव प्राण लेना हराम है। (17:33)

(7) यतीम पर क्रोध न करो। (93:9)

(8) गुस्सा पी जाया करो और लोगों को क्षमा कर दिया करो। (2:134), (24:22)

(9) बुराई का तोड़ भलाई से करो। (13:22) (28:54, 55) (41:35)

(10) कृतज्ञता दिखलाते रहो। (14:7)

(11) लोगों की गल्तियाँ क्षमा कर दिया करो। (24:22)

(12) क्रोध आये तो क्षमा कर दो। (42:37)

(13) सब्र करना और अपराध को क्षमा करना बड़े साहस के काम हैं। (42:43)

(14) दो लड़ पड़ें तो उनमें सुलह-सफ़ाई करा दो। (49:9,10)

(15) दुश्मन समझौता करना चाहे तो तुम भी समझौते के लिए तैयार हो जाओ। (8:61)

(16) जो तुमसे न लड़े और हानि न पहुँचाये उससे, उसके साथ भलाई का व्यवहार करो। (60:8)

इस प्रकार अनेक सन्दर्भ और भी हैं जो अहिंसा का सन्देश देते हैं। यहाँ हम यह समझ सकते हैं कि अहिंसा की भावना के बिना कोई भी धर्म ज्यादा समय तक टिक नहीं सकता। कुछ लोग मानते हैं कि इस्लाम तलवार के बल पर फैला कुरान के बल पर नहीं। यदि कुरान मुख्य होता तो अहिंसा की सम्भावना बनी रहती।

अहिंसा के प्रायोगिक रूप-

मुस्लिम समाज में मांसाहार आम बात है। किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण भी देखने में आये हैं जहाँ इस्लाम के द्वारा ही इसका निषेध किया गया है। इसका सर्वोत्कृष्ट आदर्शयुक्त उदाहरण हज की यात्रा है। मैंने अपने कई मुस्लिम मित्रों से इसका वर्णन साक्षात् सुना है तथा कई स्थानों पर पढ़ा है कि जब कोई व्यक्ति हज करने जाता है तो इहराम (सिर पर बाँधने का सफेद कपड़ा) बाँध कर जाता है। इहराम की स्थिति में वह न तो पशु-पक्षी को मार सकता है, न किसी जीवधारी पर ढेला फेंक सकता है और न ही घास नोंच सकता है। यहाँ तक कि वह किसी हरे-भरे वृक्ष की टहनी पत्ती तक भी नहीं तोड़ सकता। इस प्रकार हज करते समय अहिंसा के पूर्ण पालन का स्पष्ट

विधान है। 'इहराम की हालत में शिकार करना मना है'[1]

इतना ही नहीं, इस्लाम के पवित्र तीर्थ मक्का[2] स्थित कस्बे के चारों ओर कई मीलों के घेरे में किसी भी पशुपक्षी की हत्या करने का निषेध है। हज-काल में हज करने वालों को मद्य-मांस का भी सर्वथा त्याग जरूरी है। इस्लाम में आध्यात्मिक साधना में मांसाहार पूरी तरह वर्जित है, जिसे तर्के हैवानात (जानवर से प्राप्त वस्तु का त्याग) कहते हैं।

डॉ. कामता प्रसाद लिखते हैं कि 'म. जरदस्त ने ईरान में पशुबलि का विरोध कर अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा की थी। ईरान के शाहदारा ने पाषाणों पर अहिंसा का आदेश अंकित कराया था। तख्तेजमशेद नामक स्थान पर एक ऐसा लेख आज भी मौजूद है। आज भी भारत में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। कर्नाटक राज्य में गुलबर्गा में अल्लन्द जाने के मार्ग में 8 k.m चौदहवीं शताब्दी में मशहूर दरवेश हजरत ख्वाजा बन्दानवाज गौसूदराज के समकालीन दरवेश हजरत शारुक्कुद्दीन की मज़ार के आगे लिखा है[3]-

''यदि तुमने मांस खाया है तो मेहरबानी कर अन्दर मत आओ''

इसके अलावा कई मुस्लिमसम्राटों ने जैनों के दशलक्षण-पर्युषण पर्व पर कत्लखानों तथा मांस की दुकानों को बन्द रखने के आदेश भी दिये हैं। जिसके साक्षात् प्रमाण आज तक मौजूद हैं।

इस्लामधर्म में मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्यागने योग्य बताया गया है, ये जीवन को विकृत करने वाले दुर्गुण हैं। कुरान शरीफ में भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, दया, प्रेम, कृपा, संयम आदि सद्‌गुणों को ग्रहण करने पर बल दिया गया है। ये सद्‌गुण जीवन को विकसित करते हैं। इन सद्‌गुणों को धारण करने पर जीवन का आचरण

1. कुरान मज़ीद, 2:1, 95
2. अल्लाह ने मक्का को प्रतिष्ठित स्थान बनाया है। (27:91)
3. दिशा बोध, कलकत्ता, अगस्त - 2004, पृ. 7

अहिंसक हो जाता है और सुख–शान्ति की वृद्धि होती है।

हम सारांश के रूप में कह सकते हैं कि इस्लाम में सद्‌गुण (Virtue) और दुर्गुण (Vice) का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इस धर्म ने ईश्वर में विश्वास करने, धर्मपथप्रदर्शकों के विचारों पर आस्था रखने, निर्धनों और दुर्बलों के प्रति दयाभाव रखने की सीख दी है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में उन तत्त्वों की अवहेलना की गई है, जिनसे हिंसाभाव की उत्पत्ति या वृद्धि होती है और उन तत्त्वों को अपनाया गया है, जिनसे अहिंसाभाव की पुष्टि होती है एवं अहिंसा का विकास होता है। यदि हम वास्तव में विश्व शांति और भाई चारा स्थापित करना चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि मज़हबों के उन बिन्दुओं को उजागर करें जिनमें अहिंसा, प्रेम, बन्धुत्व आदि की चर्चा है तथा प्रायोगिक उदाहरण हैं, न कि सिर्फ उन्हें जिनके कारण हमारे कटु अनुभव जुड़े हैं।

इस्लाम में ऐहिक जीवन पर उतना ही बल दिया गया है, जितना पारलौकिक स्वर्ग–प्राप्ति पर; इसलिए इस्लामी नीति–विचार में सामाजिक आचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यहूदीधर्म में भी भक्ष्य और अभक्ष्य वस्तुओं की भी चर्चा की गयी है और उन्हें इस्लाम में सम्पूर्णतया अपना लिया गया है।

सूफी दर्शन और अहिंसा –

इस्लामधर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मदसाहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे – एक ज्ञान को उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान, विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया, जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनायें। दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था, वही सूफीदर्शन कहलाया। कुरान का किताबी ज्ञान तो 'इल्म–ए–शाफीन' और हार्दिक ज्ञान 'इल्म–ए–सिन' कहलाता

है।

सूफीदर्शन का रहस्य है – परमात्मा–सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म–तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना। जब परमात्म–तत्त्व की अन्वेषणा ही सूफियों का लक्ष्य रहा है तो हिंसा–अहिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हिंसा–अहिंसा का प्रश्न वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ किसी के प्रति रागभाव का प्राधान्य हो और किसी के प्रति द्वेष की दावाग्नि सुलग रही हो; वहीं हिंसा का प्राधान्य रहता है।

सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते हैं। उनके अनुसार मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है। प्रेम परमात्मा का सार है। प्रेम ही ईश्वर की अर्चना करने का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।

इस प्रकार सूफी सम्प्रदाय में, प्रेम के रूप में अहिंसा की उदात्त भावना पनपी है। प्रेम के विराट रूप का जो चित्रण सूफी सम्प्रदाय में हुआ, वह अद्‌भुत है।

यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो पाएँगे कि इस्लामिक विश्वास, वचन और कर्मकाण्ड (Practice), इसके बाहरी रूप हैं, जबकि इसका आन्तरिक रूप सूफीमत है; अत: जनसाधारण का नीतिगत विचार भी सामाजिक और व्यावहारिक के नियमों के अन्तर्गत पाया जाता है, पर इसका आन्तरिक रूप सूफी विचारों में ही देखा जाता है।

जहाँ तक सूफी मत का प्रश्न है, उसमें आत्म–विकास (Development of the Soul) का पाठ सिखाया गया है। इसमें बहुत ऊँचे आन्तरिक आचार की बातें बताई गई हैं। इस्लाम के अनुसार सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं अथवा वासनाओं के विरुद्ध करना चाहिए। अध्यात्म की दृष्टि से सूफी अहिंसा के अधिक करीब दिखायी देते हैं।

पारसीधर्म और अहिंसा

पारसीधर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे, उनका प्रमुख ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। पारसियों की प्राचीन धर्म-पुस्तक को गाथा या जेन्दावेस्ता भी कहते हैं। जेन्द का अर्थ 'टीका' है और 'अवेस्ता' भाषा का नाम है।

इस मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्तव्य हैं -

(1) अपने शत्रु को मित्र बनाना,

(2) दानव को मानव बनाना, और

(3) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह-सद्भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनाएँ होंगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस में मित्रता की हरियाली नहीं लहलहाएगी। अहिंसा से ही सद्भाव की वृद्धि होगी।

जरथुष्ट्र ने कहा - "जो व्यक्ति किसी के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है, या किसी भी प्राणी का घात कर प्रसन्न होता है तो उसे अहुरा-मज्दा निकृष्ट कोटि में रखते हैं।"[1]

उन्होंने कहा - "किसी से भी बदला लेने की भावना अत्यन्त निम्नवृत्ति है। दूसरे से बदला लेने की भावना से अनेक प्रकार के अहित होने की सम्भावना है। बदले की भावना तुम्हें सतत सताती रहेगी, अतः शत्रु से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित होकर कभी कोई पाप कार्य मत करो। सदा-सर्वदा मन में सद्विचारों के दीपक प्रकाशित रखो।

पारसीधर्म ने दान आदि सद्गुणों पर अत्यधिक बल दिया है, जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

---

1. गाथा, हा. 34-3

तृतीय अध्याय

जैनधर्म और अहिंसा

जैनधर्म के अनुसार इस जगत् (सम्पूर्ण सृष्टि) को बनाने वाला निर्माता, उसकी रचना करने वाला कोई ईश्वर, ब्रह्मा, परमब्रह्म या अल्लाह नहीं है और न ही ऐसा कोई महाशक्तिशाली है जो इस जगत् का विनाश करने में समर्थ हो। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव पूर्ण शुद्धता को प्राप्त कर परमात्मा बन सकता है। जगत् में अनादिकाल से जीव-अजीव पदार्थ हैं, जीवों में हिंसा जैसा विकार भी अनादि से ही है, अत: उस हिंसा से बचने के लिए अहिंसा एवं उसका उपदेश करने वाला अर्थात् इसे अपनी मूल धुरी मानने वाला सनातन जैनधर्म भी अनादिकाल से ही विद्यमान माना जाता है।

जैनधर्म बहुत प्राचीन धर्म है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैनधर्म कम से कम उतना प्राचीन तो है ही जितना कि वैदिकधर्म। वेदों तथा इस विषयक अन्यान्य शास्त्रों में भी जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव तथा श्रमण संस्कृति विषयक अनेक प्रमाणों का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ किया गया है।

जैनधर्म के प्रवर्तक प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव माने जाते हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव के बाद हजारों- लाखों वर्षों के अन्तराल में तेईस तीर्थङ्कर और हुए, जिनमें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तेइसवें एवं तीर्थङ्कर महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर हुए। इन्हीं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के उपदेशों के सङ्कलन को आगम, जिनागम या जैनागम कहा जाता है। जैनों के मूल आगम शास्त्र प्राकृतभाषा में हैं, जो उन दिनों जनसामान्य की मातृभाषा थी। बाद में जैनाचार्यों ने हजारों शास्त्र तथा टीका ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत भाषा में किया।

भारत के दूसरे राष्ट्रपति और विश्वविख्यात दार्शनिक सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णनन ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन फिलॉसफी' (प्रथम खण्ड) में जैनधर्म की प्राचीनता बतलाते हुए लिखा है – "**प्रमाण उपलब्ध हैं, जो बताते हैं कि बहुत पहले से ही, प्रथम शताब्दी (ईसा पूर्व) से ही ऐसे लोग थे, जो ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर की उपासना करते थे। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं कि वर्द्धमान अथवा पार्श्वनाथ से पूर्व से ही जैनधर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि, तीन तीर्थङ्करों के नाम उल्लिखित हैं। भगवद् पुराण इस विचार का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के प्रवर्तक थे।**"[1]

इसी प्रकार राष्ट्रकवि और विद्वान रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं– "**जैनधर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि यह उतना ही पुराना है, जितना वैदिकधर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार चौदह मनु हुए हैं। अन्तिम मनु नाभिराय थे, उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए, जिन्होंने अहिंसा और अनेकान्तवाद आदि का प्रवर्तन किया।..... 'भरत', ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम 'भारत' पड़ा।**"[2]

अहिंसा, जैनधर्म का प्राण है। जैनधर्म की अहिंसा का मूल आधार समता है। समता से आत्मसाम्य की निर्मलदृष्टि प्राप्त होती है। विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं, उन सभी के प्रति समत्वदृष्टि रखना चाहिए क्योंकि जितनी भी आत्माएँ हैं, सभी जीव हैं; उन सभी में एक समान ज्ञान-दर्शन की ज्योति है, सभी के गुण-धर्म समान हैं, सभी को एक ही सदृश सुख-दु:ख की अनुभूति होती है, सभी को जीने में आनन्द आता है और मरने में कष्ट होता है। कूकर, शूकर और गन्दगी में बिलबिलाते हुए कीड़ों में भी जिजीविषा है। उन सबकी भी यही इच्छा है कि हमें मृत्यु न आए और यही इच्छा स्वर्ग में रहने वाले देव और इन्द्र की भी है।

---

1. इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड-1 पृ. 287
2. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 101

जिसका जीवन सुख के सागर में निमग्न है, वह भी जीना चाहता है और दु:ख-दावाग्नि में जिसका जीवन सुलग रहा है, वह भी जीना चाहता है। जब यह मानव अपनी आत्मा के समान अन्य प्राणियों को समझता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य को कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। इस प्रकार जैनधर्म के अनुसार द्रव्य दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं।

जीवों के प्रकार और अहिंसा

जैनधर्म के अनुसार संसार के समस्त प्राणी 'त्रस' और 'स्थावर' के रूप में दो प्रकार के हैं।[1] स्वत: जो चल-फिर नहीं सकते - ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति, ये पाँच स्थावर या स्थिर जीव हैं, इनमें मात्र एक 'स्पर्शन-इन्द्रिय' ही होती है। इनके अतिरिक्त जो स्वयं चलते-फिरते दिखायी देते हैं, वे सब त्रस या जङ्गम जीव हैं, ये दो-इन्द्रिय से लेकर पाँच-इन्द्रिय वाले होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणुओं से लेकर जलचर, नभचर और थलचर, पशु-पक्षी, मनुष्य, नारकी और देव आदि सृष्टि के समस्त प्राणी, इस त्रस या जङ्गम की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं।

गृहस्थ व्यक्ति को अपना जीवन-निर्वाह करने के लिए जो कार्य करने पड़ते हैं, उनमें स्थावर जीवों की हिंसा निरन्तर होती ही रहती है, वह लौकिक जीवन की अनिवार्यता है; अत: उसके सर्वथा त्याग का उपदेश नहीं दिया गया है। इतनी अपेक्षा अवश्य की गई है कि अहिंसा का आदर करने वाले व्यक्ति के द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि का भी यत्नाचारपूर्वक उपयोग किया जाए, उसका आचरण करने से इन स्थावर जीवों का भी निरर्थक विनाश नहीं होगा और इससे पर्यावरण भी सुरक्षित एवं सन्तुलित रहेगा। यदि हमारी असावधानी, लापरवाही या प्रमादवश इन स्थावर जीवों का भी आवश्यकता से अधिक घात होता है तो वह अपराध माना जाता है। आज, पर्यावरण प्रदूषण और असन्तुलन की समस्या का भी यह मूलभूत कारण है कि हमने इन स्थावर जीवों का आवश्यकता से अधिक दोहन किया है।

1. संसारिणस्त्रसस्थावरा:। -त0 सू0 2/12

त्रस-जीवों की रक्षा के लिए मनुष्य को प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिए। सुविचारित जीवनशैली में कहीं भी, एक भी त्रस-जीव का विघात अनिवार्य नहीं है; अत: उससे तो बचना ही चाहिए।

जैनधर्म में हिंसा के दोष का निर्णय उसकी कषाय और प्रमाद के आधार पर ही किया जाता है। क्रोध-मान-माया-लोभ - ये चार कषायें और अज्ञान - ये हिंसा की नींव हैं। कषाय होती है तो हिंसा होती है, कषाय नहीं होती तो हिंसा भी घटित नहीं होती है। इसी प्रकार कषाय जितनी मन्द होती है, हिंसा उतनी ही कम होती है और कषाय जितनी तीव्र होती है, हिंसा उतनी अधिक होती है।

हिंसा का स्तर निर्धारित करने के लिए जैनधर्म में दो साधन माने गये हैं - जीवों का अन्तर (भेद) और कषायभावों की मात्रा। यदि सभी जीवों की हिंसा का कुफल समान होता या हिंसा का पाप, हिंसित जीवों की संख्या पर निर्भर होता तो एक व्यक्ति जो दो-चार गाजर-मूली उखाड़ लेता है और दूसरा व्यक्ति जो एक मनुष्य की हत्या कर देता है, दोनों को समान पापी माना जाता, बल्कि मनुष्य का हत्यारा कम पापी माना जाता क्योंकि उसने तो सिर्फ एक प्राणी की ही हत्या की है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि जिन जीवों का विघात हुआ है, उन दोनों जीवों के इन्द्रिय विषयक विकास में महान अन्तर है। एक, एक-इन्द्रिय वाला है और दूसरा पाँच-इन्द्रिय वाला है।

स्थावर जीवों की हिंसा के समय उसकी ओर से न कोई प्रतिकार होता है, न किसी तरह के दु:ख की भावना व्यक्त होती है; इसलिए ये पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और वनस्पति इन एकेन्द्रिय स्थावर कायिक जीवों की हिंसा के समय हिंसक के मन में विशेष क्रूरता या कषायभाव आना अनिवार्य नहीं है, इसलिए उस हिंसा का अल्पदोष माना है। लेकिन जैसे-जैसे हम एक-इन्द्रिय से लेकर पाँच-इन्द्रिय के जीवों की हिंसा की ओर क्रमश: आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे मारने वाले के मन में कषाय की मात्रा बढ़ती जाती है, आत्मपरिणामों में क्रूरता अनिवार्य होती जाती है; अत: उसमें उत्तरोत्तर अधिक हिंसा होती है, उसका फल भी वैसा ही अधिक होता है।

पाँच व्रतों का स्वरूप

जैनधर्म का एक प्रसिद्ध सूत्र है – '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**'[1]। यह सूत्र जैनधर्म के प्रतीक चिह्न के साथ अङ्कित है। इस सूत्र का अर्थ है कि 'जीवों में परस्पर उपकार अर्थात् निमित्तपना होता है'; वास्तव में कोई जीव किसी अन्य का भला-बुरा कर नहीं सकता, क्योंकि सभी जीव अपने-अपने भले-बुरे कर्मों का ही फल भोगते हैं परन्तु व्यवहार से जीवधारियों में विशेषकर विवेकशील मानव का, यह पुनीत कर्तव्य है कि वह दूसरे जीवों की सहायता करे, उनकी रक्षा करे; उन्हें सताये नहीं और उन्हें दु:ख पहुँचाने में भी निमित्त नहीं बने।

इसी पवित्र भावना को लक्ष्य में रखकर जैनधर्म में पाँच व्रतों का प्रतिपादन हुआ – ये पाँच अणुव्रत भी होते हैं और महाव्रत भी। इन पाँच व्रतों का आंशिक पालन, अणुव्रत कहलाता है; इसे गृहस्थ लोग पालन करते हैं तथा इन्हीं पाँच व्रतों का पूर्णरूप से निर्दोष पालन महाव्रत कहलाता है, जिसे मुनिराज पालन करते हैं। ये पाँच व्रत हैं[2] –

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अपरिग्रह

इन पाँच व्रतों में अहिंसा ही प्रमुख है। यही साध्य है, शेष चारों इसी के साधक हैं।[3] जिस प्रकार किसान फसल की रक्षा के लिए खेत के चारों तरफ बाड़ लगा देते हैं; उसी प्रकार सत्य, अचौर्य आदि सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए ही हैं। इन व्रतों की रक्षा और वृद्धि के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ तथा इन व्रतों को दूषित करने वाले पाँच-पाँच अतिचारों का विवेचन भी जैन शास्त्रों में वर्णित है।

अहिंसाव्रत

हिंसा का त्याग करना, अहिंसाव्रत है। आंशिक रूप से इस व्रत का पालन करना, अहिंसा अणुव्रत कहलाता है तथा पूर्णरूप से पालन करना,

1. तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
2. तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
3. अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।। –पु.सि.उ. – 42

अहिंसा महाव्रत कहलाता है। [1]अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। जो प्रत्यक्षत: कोई बड़े पाप प्रतीत नहीं होते, किन्तु जिनके करने से व्रतों में दोष लगता है, उन्हें अतिचार कहते हैं।

अहिंसाव्रत के पाँच अतिचार हैं[2] –

1. बन्धन – किसी जीव को जबरदस्ती बाँध कर रखना, पिंजरे आदि में बन्द करना, **बन्धन** कहलाता है।

2. पीड़न – बेंत, चाबुक आदि से जीवों को मारना, कठोर वचनों का प्रयोग कर उन्हें पीड़ा पहुँचाना, **पीड़न** कहलाता हैं।

3. छेदन – जानवरों के कान-नाक आदि अङ्गों को छेदना, उसमें नकेल आदि लगाना, **छेदन** कहलाता है।

4. अतिभारारोपण – लोभ के कारण किसी जीव पर उसकी सामर्थ्य से ज्यादा बोझ लाद देना, **अतिभारारोपण** कहलाता है।

5. अन्न-पान निरोध – अपने अधीन जीवों को भूख-प्यास आदि की बाधा उत्पन्न करना, **अन्न-पाननिरोध** कहलाता है।

अहिंसाव्रत के संवर्धन के लिए जैन शास्त्रों में **पाँच भावनाओं** की बात कही गयी है, वे पाँच भावनाएँ हैं[3] –

1. मनोगुप्ति[4] – मन को नियन्त्रित रखना तथा उसे विषय-वासनाओं की ओर नहीं जाने देना, **मनोगुप्ति** कहलाती है।

---

1. वही, 7.2,
2. बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा:। वही 7/25
3. वही, 7.14
4. गुप्तियों के तीन प्रकार हैं – मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। कायगुप्ति का सीधा सम्बन्ध अहिंसा से है ही, अत: उसे तो अहिंसा की मूल परिभाषा में शामिल किया गया है, शेष मनोगुप्ति और वचनगुप्ति के परिपालन को भावनाओं के

2. वचनगुप्ति – वचन के द्वारा अनर्गल या निरर्थक प्रलाप नहीं करना, विसंवाद, गाली–गलौच, अपशब्द आदि से स्वयं को बचाकर रखना, **वचनगुप्ति** कहलाती है।

3. ईर्यासमिति – उठने–बैठने, चलने–फिरने तथा और भी अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते समय इस बात का ध्यान रखना कि हमारी इन क्रियाओं से किन्हीं छोटे–बड़े जीवों को कष्ट न पहुँचे या उनका जीवन न चला जाए, इसका पालन करना, **ईर्यासमिति** कहलाती है।

4. आदाननिक्षेपण समिति– सावधानीपूर्वक वस्तुओं को उठाना और रखना, ताकि छोटे–छोटे जीवों की हिंसा न हो, इसका पालन करना, **आदाननिक्षेपण समिति** कहलाती है।

5. आलोकित–पानभोजन समिति – इसका अर्थ है कि दिन के प्रकाश में ही निर्दोष भोजन ग्रहण करना। भोजन करने में साफ–सफाई का ध्यान रखना, सात्त्विक–शाकाहार ही ग्रहण करना और सूर्यास्त के पहले भोजन करना, **आलोकितपानभोजन समिति** कहलाती है।

इस प्रकार इन भावनाओं से अहिंसाव्रत समृद्ध और वृद्धिंगत होता है।

सत्यव्रत

सत्य और अहिंसा का परस्पर बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का पालन सम्भव नहीं है। ये दोनों परस्पर एक–दूसरे के

अन्तर्गत लिया गया है, इसी प्रकार यद्यपि समितियाँ पाँच हैं, पर जिन समितियों का सीधा सम्बन्ध अहिंसा से है, उन्हें अहिंसाव्रत में और जिन समितियों का सम्बन्ध अन्य सत्यव्रत, अचौर्यव्रत आदि से है, उन्हें उन–उन व्रतों की भावनाओं के अन्तर्गर्भित किया गया है।

पूरक हैं। अहिंसा यथार्थ को सौन्दर्य प्रदान करती है, और यथार्थ, अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसा रहित सत्य, कुरूप है और सत्यरहित अहिंसा, क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिए अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की आराधना अनिवार्य है। झूठ नहीं बोलना तथा हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्यव्रत है।[1]

सत्यव्रत को दूषित करने वाले, पाँच अतिचार हैं[2] -

1. **परिवाद** - निन्दा करना, गाली देना, वचनों से ऐसा वातावरण बनाना, जिससे परिवार, समाज, राष्ट्र आदि में अशान्ति उत्पन्न होना, **परिवाद** कहलाता है।

2. **रहोभ्याख्यान** - किसी के गोपनीय रहस्यों को उजागर करना, प्रलोभन में आकर देश की रक्षा, उद्योग या अर्थव्यवस्था-सम्बन्धी सूचनाएँ आदि विरोधियों को देना, **रहोभ्याख्यान** कहलाता है।

3. **पैशून्य** - किन्हीं दो लोगों को लड़वाने के लिए चुगली करना, इधर-उधर की बातें करना, पीठ-पीछे बुराई आदि करना, **पैशून्य** कहलाता है।

4. **कूटलेखक्रिया**- नकली दस्तावेज बनाना, झूठे सर्टिफिकेट बनाना, जाली हस्ताक्षर, लिखा-पढ़ी में फेर-बदल करना **आदि कूटलेखक्रिया** कहलाती है।

5. **न्यासापहार** - अपने पास रखी किसी की धरोहर न देना, या भुला देना, किसी की सम्पत्ति हड़प लेना, मजदूरों को नियमानुसार वेतन आदि नहीं देना या उनमें कटौती आदि करना **न्यासापहार** कहलाता है।

---

1. असदभिधानमनृतम्। त.सू. 7.14
2. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः। वही, 7.26

सत्यव्रत के निर्दोष पालन के लिए इन अतिचारों से बचना चाहिए, इनसे परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की शान्ति भङ्ग होती है।

मनुष्य क्रोध, लोभ, भय और हास्य में ही प्रायः असत्य बोलता है; इसीलिए क्रोध और लोभ पर नियन्त्रण करना, भय को त्यागकर आत्मविश्वासपूर्वक निर्भीक जीवन जीना, व्यङ्ग्यात्मक और अश्लील हास्य से बचना, **सत्यव्रत** की **पाँच भावनाएँ** हैं।

अचौर्यव्रत

चोरी भी हिंसा का ही रूप है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी हो जाती है या वह कहीं ठगा जाता है, तब उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी होता है; अतः जब तक चोरी का त्याग न हो, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता और सत्य का निर्वाह भी नहीं हो सकता। किसी की भूली हुई, रखी हुई वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के ले लेना, चोरी है। चोरी का त्याग करना, अचौर्यव्रत है।[1]

अचौर्यव्रत के भी **पाँच अतिचार** हैं[2] –

1. चौर-प्रयोग – चोरी की योजना बनाना, चोरी या चोर की प्रशंसा या समर्थन करना और चोरी करने के लिए तरह-तरह के उपाय बताना, चौर-प्रयोग कहलाता है।

2. चौरार्थ-आदान – चोरी की वस्तु खरीदना, चोर-डाकुओं को संरक्षण और सहायता देना, चौरार्थ-आदान कहलाता है।

3. विरुद्धराज्यातिक्रम – न्यायमार्ग को छोड़कर अन्य प्रकार से किसी की जमीन छीन लेना, अतिक्रमण करना, कब्जा करना, घूस आदि लेना-देना, राज्य या राष्ट्र द्वारा निर्धारित कानूनों का उल्लंघन आदि विरुद्धराज्याति-क्रम कहलाता है।

---

1. अदत्तादानं स्तेयम्। त.सू. 7.15
2. त.सू. 7.27

4. प्रतिरूपक-व्यवहार - मिलावट करना, नकली को असली बताना, नकली दवा तथा अन्य वस्तुयें आदि बेचना प्रतिरूपक-व्यवहार कहलाता है।

5. हीनाधिक-मानोन्मान - कम तौलना, कर-चोरी करना, हिसाब की हेरा-फेरी आदि करना, हीनाधिक-मानोन्मान कहलाता है।

इन अतिचारों से अचौर्यव्रत में दोष लगता है। इस व्रत में दृढ़ता लाने के लिए नीतिपूर्वक कमाए गए द्रव्य से अपनी आय के अनुसार ही आजीविका चलाने का सङ्कल्प करना चाहिए।

ब्रह्मचर्यव्रत

यौनाचार या मैथुन[1] के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यद्यपि गृहस्थ के लिए विवाह का मार्ग खुला है तथापि स्वपति या स्वपत्नी-सन्तोषव्रत के साथ अन्य स्त्री या अन्य पुरुष को विकारभाव से भी नहीं देखना, ब्रह्मचर्याणुव्रत है। उन्मुक्त यौनाचार ने आज एड्स आदि कई ज्वलन्त समस्याओं को जन्म दिया है, इनसे परिवार और समाज में अशान्ति और विग्रह फैलता है। जहाँ गृहस्थ को ब्रह्मचर्याणुव्रत आंशिक संयम प्रदान करता है, वहीं साधु को ब्रह्मचर्य महाव्रत पूर्ण संयम प्रदान करता है।

ब्रह्मचर्यव्रत को भी दूषित करनेवाले **पाँच अतिचार** हैं[2] -

1. परविवाहकरण - दूसरे का विवाह करवाना, दिन-रात उसी चिन्ता में रहना, अपने परिवार के अलावा दुनिया भर के विवाह की सोचना आदि क्रियाएँ, परविवाहकरण कहलाती हैं।

2. अनङ्गक्रीड़ा - विकृत और उच्छृङ्खल यौनाचार में रुचि रखना, अप्राकृतिक मैथुन करना, समलैंगिकता आदि अनङ्गक्रीड़ा कहलाती है।

3. विटत्व - काम-सम्बन्धी कुचेष्टाएँ करना, विटत्व है।

1. मैथुनमब्रह्म। त.सू. 7.16
2. त.सू. 7.28

4. कामतीव्राभिनिवेश - विषय-भोग की तीव्र लालसा रखना, दिन-रात उसी के बारे में सोचना, कामतीव्राभिनिवेश है।

5. इत्वरिकागमन - चरित्रहीन स्त्री या पुरुषों से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना इत्वरिकागमन कहलाता है।

अब्रह्मचर्य भी हिंसा ही है। ब्रह्मचर्यव्रत के सङ्कल्प को पुष्ट करने और उसके संवर्धन करने के लिए पाँच भावनाएँ करने योग्य हैं[1] -

(1) कामवासना उत्पन्न करने वाले अश्लील साहित्य को नहीं पढ़ना चाहिए और तत्सम्बन्धी कथा, चर्चा, भाषण इत्यादि क्रियाकलापों में भाग नहीं लेना चाहिए।

(2) कामोत्तेजक वस्त्र आदि नहीं पहनना चाहिए और तदनुरूप शरीर को नहीं सजाना चाहिए।

(3) स्त्री या पुरुष की तरफ विकारभाव से नहीं देखना चाहिए।

(4) पूर्वकाल में यदि कोई भोग भोगा है तो उसका स्मरण नहीं करना चाहिए।

(5) इन्द्रिय-वासना बढ़ाने वाले कामोत्तेजक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

वर्तमान में काम-सेवन की तुलना पौरुष से की जाती है। ऐसा माना जाता है कि जो जितना कामुक है या काम-पुरुषार्थ करता है, वह उतना ही बलवान या बलशाली है किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। अधिक कामवासना कमजोरी की सूचक होती है। एक शोध से ज्ञात हुआ है कि शेर जैसा शक्तिशाली जानवर, वर्ष में एक बार ही सम्भोग करता है; अन्य पशु-पक्षी भी अपने निश्चित ऋतुकाल में ही कामसेवन करते हैं किन्तु मात्र मनुष्य के जीवन में भोग का कोई नियम या सीमा का विवेक नहीं है।

---

1. त.सू. 7.7

परिग्रह-परिमाणव्रत अर्थात् अपरिग्रहव्रत

बाह्य पदार्थों को एकत्रित करने की भावना और उसमें आसक्ति ही परिग्रह कहलाता है।[1] अपनी आवश्यकता के अनुसार पदार्थ का सञ्चय तथा उसमें अनासक्ति का भाव रखना, **परिग्रह-परिमाणव्रत** कहलाता है। परिग्रह अर्थात् पदार्थों में आसक्ति हिंसा है तथा पदार्थों के प्रति ममत्व या आसक्ति का त्याग, अहिंसा है। इस व्रत का दूसरा नाम '**इच्छा-परिमाणव्रत**' भी है। यह सब श्रावकाचार के अन्तर्गत विधेय है।

जैनधर्म ने दो प्रकार के परिग्रह माने हैं - एक, **अन्तरङ्ग परिग्रह** और दूसरा, **बहिरङ्ग परिग्रह**। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद - यह चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह है। दूसरे शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरङ्गें अन्तरङ्ग परिग्रह हैं अर्थात् कामनाओं का ही दूसरा नाम है अन्तरङ्ग परिग्रह। यह आत्मा की सहज स्वाभाविक शान्ति में व्यवधान (बाधा) डालते हैं; अतः इन्हें हिंसा कहते हैं।[1]

बहिरङ्ग परिग्रह में खेत-मकान, सोना चांदी आदि रूप धन-सम्पत्ति, पशु-वाहन, नौकर-नौकरानी, कपड़े-बर्तन इत्यादि आते हैं। इन सभी परिग्रहों में अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार सीमा बाँधकर उसके बाहर अनन्त पदार्थों का मन-वचन-काय से त्याग कर देना 'परिग्रहपरिमाणव्रत' कहलाता है, तथा इनका आवश्यकता से अधिक संग्रह अतिचार कहलाता है।[2]

वास्तव में यदि जरा गहराई से देखें तो हम पाते हैं हिंसा और संग्रह में भेद नहीं है। ये दोनों एक ही वस्त्र के दो छोर हैं। एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। आप अनावश्यक संग्रह करें और हिंसा से बचना चाहें, यह कैसे संभव हो सकता है? एक बात हम सभी समझ लें-हिंसा का सूत्र है जितना संग्रह उतनी हिंसा। अहिंसा का सूत्र है- जितना असंग्रह उतनी अहिंसा।

1. मूर्च्छा परिग्रहः। -त.सू. 7.17
2. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। -त.सू. 7.29

इच्छाओं का संसार असीम है। यदि उसे सीमित न किया जाए तो मानव को दानव बनने में देर नहीं लगती। अत्यधिक परिग्रह का अर्थ होता है कि अन्याय करना। अन्याय व शोषण महाहिंसा है। जो शोषित होता है, वह भी हिंसक हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज और राष्ट्र की शान्ति भङ्ग होने में भी देर नहीं लगती।

परिग्रहपरिमाणव्रत को दूषित करने वाले **पाँच दोष** भी हैं –

1. **अतिवाहन** – अधिक लाभ की आकांक्षा में शक्ति से ज्यादा दौड़ना-भागना, दिन-रात आकुल-व्याकुल रहना और अपने अधीनस्थों से नियमविरुद्ध अधिक काम करवाना, अतिवाहन है।

2. **अतिसंग्रह** – अधिक लाभ की भावना से वस्तुओं का अधिक समय तक संग्रह करना, अतिसंग्रह है।

3. **अतिविस्मय** – स्वयं को अधिक लाभ होने पर अहङ्कार करना और दूसरों का अधिक लाभ होने पर विषाद करना, अतिविस्मय है।

4. **अतिलोभ** – मन के अनुकूल लाभ होने पर भी और अधिक लाभ की इच्छा करना, अतिलोभ है।

5. **अतिभारवाहन** – किस व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर उससे अधिक ब्याज आदि वसूल करना, अतिभारवाहन है। अधिक कमाने की इच्छा से पशुओं पर सामर्थ्य से ज्यादा भार लादना भी इसी में आता है।

उक्त क्रियाओं से यह व्रत दूषित होता है और समाज में भी असन्तुलन की स्थिति बनती है। इनसे व्यक्तिगत हिंसा के साथ-साथ सामाजिक अपराधों में भी बढ़ोतरी होती है।

उपर्युक्त पाँच व्रत, पाँच पाप के निवृत्तिस्वरूप हैं। ये पाप, दूसरों को दु:खी करने के साथ-साथ स्वयं पाप करने वाले को भी आकुलता, भय, शङ्का, तृष्णा आदि न जाने कितनी मानसिक पीड़ा पहुँचाते हैं। भविष्य में भी इनका फल दु:ख के रूप में प्राप्त होता है, अत: ये दु:खस्वरूप ही हैं। जो सुख-शान्ति चाहते हैं, उन्हें इन पापों से बचना चाहिए।

इस प्रकार जैनधर्म अपनी प्रत्येक क्रिया में अहिंसा की भावना को प्रधानता देता है।

अहिंसक आचरण सम्बन्धी क्रियाएँ

जैनधर्म के अनुयायी अहिंसाभावना के अनुरूप दैनिक क्रियाओं में ऐसी अनेक क्रियाएँ करते हैं, जो उनकी शुद्ध अहिंसक जीवन शैली को प्रगट करती हैं। उन क्रियाओं में कुछ प्रमुख क्रियाओं का उल्लेख यहाँ आवश्यक है–

1. शाकाहार –

आहार–शुद्धि पर जैनधर्म अत्यधिक बल देता है। जैनधर्म में माँसाहार का कड़ा निषेध है। अण्डा, माँस, शराब आदि पदार्थों का सेवन, किसी भी मनुष्य को नहीं करना चाहिए। 'म' से प्रारम्भ होने वाले तीन मकार 'मद्य–माँस–मधु' गृहस्थ श्रावकों को अनिवार्य रूप से त्यागने योग्य हैं।[1] जैनधर्म में शुद्ध शाकाहारी पदार्थों को भी उनकी कालावधि के बाद सेवन करने का निषेध है क्योंकि एक समय–सीमा के बाद उनमें भी सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं; उनका सेवन करने से हिंसा तो होती ही है, स्वास्थ्य भी खराब होता है।

जमीन के भीतर उत्पन्न होने वाले प्याज–लहसुन आदि जमीकन्द पदार्थों का सेवन भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उनमें अनन्त सूक्ष्मजीव रहते हैं, उनकी हिंसा होती है और इनका सेवन तामसिकता को बढ़ाता है। बाजार में बनी वस्तुओं को भी अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि उनकी निर्माण–विधि शुद्ध स्वच्छ नहीं होती और मिलावट का भय बना रहता है। इन सभी नियमों का पालन जिससे जितना भी बन सके, अपनी–अपनी क्षमता और विवेक के अनुसार करना ही चाहिए।

2. पानी छानना –

जल, मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि मनुष्य अशुद्ध जल पिएगा तो उसका जीवन सङ्कट में आ जाएगा। जैनधर्म ने मनुष्यों से कहा कि

---

1. मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।। –पु.सि.उ. 61

पानी छान कर पिओ क्योंकि उसमें असंख्य जीव रहते हैं। पहले लोगों को विश्वास नहीं होता था कि पानी में जीव कहाँ से आये? हजारों-लाखों वर्षों से जैनधर्म ने अपने इस विश्वास को नहीं छोड़ा और अपनी बात कहता रहा। अब जाकर आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित किया है कि एक बूँद जल में 36,450 जीव होते हैं। पानी विधिपूर्वक नहीं छानने से इन जीवों की हिंसा तो होती ही है, साथ ही इससे स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। एक पुरानी कहावत है -

पानी पीओ छानकर, जीव जन्तु बच जायें।
लोग कहें धर्मात्मा, रोग निकट नहिं आयें॥

यदि जीवों की हिंसा से बचना चाहते हो तो पानी को विधिपूर्वक छानकर ही प्रत्येक कार्य में उपयोग लेना चाहिए।

3. रात्रि-भोजन त्याग -

जैनधर्म में रात्रि-भोजन का निषेध है।[1] जैनधर्म के अनुसार सूर्य की किरणों से वातावरण शुद्ध रहता है और सूर्यास्त के बाद रात्रि में अनेक जीव उत्पन्न होते हैं, जो वातावरण को अशुद्ध करते हैं। रात्रि में भोजन बनाने और खाने से बहुत हिंसा होती है। साथ ही रात्रि में पाचन-क्रिया मन्द होने से, भोजन करने से स्वास्थ्य पर भी गलत प्रभाव पड़ता है; अतः रात्रि में भोजन न बनाना चाहिए और न ही करना चाहिए।

रात्रि में अन्न ग्रहण करना खाने के प्रति अत्यधिक आसक्ति को दर्शाता है। जैन परम्परा में तो सभी आचार शास्त्र रात्रि भोजन का कड़ा निषेध करते ही हैं साथ ही वैदिक परम्परा में भी रात्रि के भोजन को उचित नहीं माना गया है। महाभारत में लिखा हैं-[2]

''श्वभ्रद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।''

---

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - श्लोक 129 से 134
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 15-16

तथा–

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयंति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।।

अर्थात् रात्रि भोजन नरक का प्रथम द्वार है तथा जो रात्रि में आहार नहीं करते उन्हें महीनें में 15 दिन के उपवास का फल मिल जाता है।

स्कन्द पुराण के अनुसार दिन में भोजन करने वाला तीर्थ यात्रा के जैसा फल पा लेता है–

''**अनस्तभोजिनो नित्यं तीर्थ यात्रा फलं भजेत्**''।।

इस प्रकार रात्रि का भोजन सिर्फ धार्मिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अहिंसा के अनुकूल नहीं है।

4. लोकोपकारी कार्य –

जीव–कल्याण और समाज–सेवा की भावना से अहिंसाधर्म के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य करने चाहिए। जैसे, निर्धनों को वस्त्र आदि देना, जनता की सेवार्थ चिकित्सालय खोलना, धर्मशाला बनवाना, शिक्षा के लिए विद्यालय खोलना, गोशाला तथा पशु–पक्षी चिकित्सालय का सञ्चालन करना, समाज में व्यसन–मुक्ति हेतु कार्य करना, आदि आदि। जैनधर्म के अनुयायी, इन सब कार्यों को जीव–दया की दृष्टि से करते हैं। उनके ये कार्य सिर्फ जैनों के लिए ही नहीं हैं, वरन् सभी मनुष्यों के लिए हैं, चाहे वे किसी भी धर्म या जाति के हों। सहृदय अहिंसक भावना वाला गृहस्थ मनुष्य, मानव सहित सभी जीवों के हित के लिए जितना कर सकता है, उतना कार्य अवश्य करना चाहिए। निःस्वार्थभाव से किए गए इन कार्यों से सामाजिक सौहार्द बढ़ता है और सम्पूर्ण विश्व, शान्ति की ओर बढ़ता है।

इस प्रकार और भी अनेक नियम व कार्य हैं, जो जैनधर्म की अहिंसाभावना को प्रगट करते हैं। यहाँ अहिंसा, सिर्फ सिद्धान्त के रूप में ही

नहीं बल्कि प्रयोगिक रूप में भी स्पष्ट दिखलाई देती है।

मानसिक और वाचिक अहिंसा - अनेकान्त और स्याद्वाद

जैनधर्म ने सापेक्ष चिन्तन पर जोर दिया है। हम कभी किसी भी घटना या परिस्थिति को सिर्फ अपनी ही दृष्टि से न सोचें; दूसरों के सम्यक् दृष्टिकोण का भी ख्याल रखें, हो सकता है कि वह सही हो। इसे जैनधर्म का 'अनेकान्त-चिन्तन' कहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार 'हिंसा' का मूलकारण 'एकान्त-चिन्तन' ही है। जैनदर्शन 'मेरा सो खरा' वाली नीति पर विश्वास नहीं करता। उसे तो 'खरा सो मेरा' वाली ही नीति ही पसन्द है और यही उसका अनैकान्तिक दृष्टिकोण है। सत्य अनेकान्त स्वरूप ही है। अपने अलावा दूसरों के सम्यक् विचारों का भी चिन्तन करना और वस्तु में गर्भित अनन्त और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का विचार करना, यह चिन्तन में अनेकान्त है, इसे '**मानसिक अहिंसा**' का नाम दिया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार "जो वस्तु तत् (जैसी) है, वही अतत् (वैसी नहीं) है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है; इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करने वाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का एक साथ प्रकाशन होना, अनेकान्त है।"[1]

वचनों का संसार भी अद्भुत है। हम वचनों को भी सापेक्ष बनाकर उन्हें शुद्ध कर सकते हैं। एकाङ्गी या मिथ्या वचनों का प्रयोग अशान्ति फैलाता है, इसीलिए वाणी की पवित्रता व सत्यता बहुत जरूरी है; अत: जैनधर्म वाणी में स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रयोग की बात कहता है।

स्याद्वाद का अर्थ है कि सापेक्ष अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन करना। जैसे, मैं कहूँ कि 'मैं पुत्र हूँ' तो यहाँ संशयपूर्ण वचन होगा, परन्तु यदि मैं कहूँ कि 'मैं माता-पिता की अपेक्षा पुत्र हूँ' तो यह वचन अधिक शुद्धवचन

---

1. यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक-वस्तुवस्तुतत्त्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त:।

-आचार्य अमृतचन्द्र - समयसार टीका, स्याद्वादाधिकार

होगा तथा किसी को संशय नहीं होगा और न ही संघर्ष होगा। अत: यदि शुद्ध बोलें और हित-मित-प्रिय वचन बोलें तो सभी को अच्छा लगता है। .ऐसा नहीं बोलें, जिससे दूसरों को दु:ख पहुँचता हो, उससे हिंसा होती है।

जैनधर्म के अनुसार वचनों की अहिंसा का व्यावहारिक जीवन में भी प्रयोग किया जाना चाहिए। अर्थात् हिंसक शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे, 'सब्जी या फल काट दो' कहने की अपेक्षा 'सब्जी या फल बना दो या सुधार दो' कहना अहिंसक वचन है। 'काटना' शब्द हिंसक है अत: इसके कहने से हिंसा का वातावरण बनता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि सोचने और कहने का अन्दाज अलग-अलग है। इसी प्रकार मनुष्यों के वैचारिक स्तर में भी अन्तर हो जाता है।

अहिंसा के तीन स्तर : मानसिक, वाचिक और कायिक

किसी भी प्राणी को नहीं मारना, उसे दु:ख नही पहुँचाना, यह सामान्य अर्थ में अहिंसा है। व्यापक अर्थ में मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदन से प्राणीमात्र को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना या उनके प्राणों का घात न करना, अहिंसा है। मन, वचन और काय (शरीर) में से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीव की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है; ऐसे जीवन को निरन्तर धारण करना ही अहिंसा है।

अहिंसा का यह सैद्धान्तिक और नैतिक आधार जैनधर्मदर्शन में उपलब्ध है। अहिंसा का क्षेत्र सीमित नहीं है। अहिंसा का सम्बन्ध अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग, दोनों रूपों में हैं। प्राणीमात्र को मन, वचन और काय से किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाना, उसका दिल नहीं दु:खाना, यह तो बहिरङ्ग अहिंसा है और राग-द्वेष से निवृत्त होकर साम्यभाव में स्थिर होना, अन्तरङ्ग अहिंसा है। इतनी व्यापक परिभाषा हमें पूर्व से लेकर पश्चिम तक कहीं भी देखने को नहीं मिलती। कोई भी कार्य या क्रिया, जो राग-द्वेष भाव से की

जाती है, वह अहिंसा की श्रेणी में नहीं आती है। वस्तुत: अन्तरङ्ग में आंशिक साम्यता आए बिना अहिंसा की शुरुआत हो ही नहीं सकती।

कहा जाता है कि चारों तरफ हिंसा बढ़ रही है। सम्पूर्ण विश्व में रोजमर्रा की जिन्दगी में हिंसा प्रभावी हो रही है। इस सन्दर्भ में क्या कभी यह विचार किया कि वास्तव में हिंसा कितनी बढ़ रही है? क्या बाह्य हिंसा की मात्रा बाह्य अहिंसा से अधिक हो गई है? सामान्यत: मनुष्य चौबीस घण्टे किसी न किसी को सिर्फ मारने–मारने का काम नहीं कर सकता। यह घटना कभी–कभी ही होती है। अधिकांश समय मनुष्य शान्ति से किसी को कष्ट पहुँचाए बिना ही व्यतीत करता है। दंगे–फसाद भी कोई वर्षभर तो चलते नहीं हैं। कभी–कभी अचानक इस प्रकार की घटनाएँ होती हैं। ऐसी घटनाएँ ज्यादा भी हों तो भी उन दिनों की संख्या कहीं ज्यादा ही निकलेगी, जिन दिनों में ऐसी घटना या बातें नहीं होती हैं।

बात स्पष्ट है कि हिंसक प्रवृत्ति की प्रधानता वाला मनुष्य या समाज भी सतत हिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकता क्योंकि हिंसा प्राणीमात्र का स्वभाव नहीं अपितु विभाव है। मनुष्य का मूलस्वभाव तो अहिंसा है। जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता है किन्तु कभी अग्नि आदि के संयोग से वह गर्म हो जाता है। उष्णता, जल का स्वभाव नहीं है, इसलिए अग्नि का निमित्त हट जाने पर कुछ समय बाद वह पुन: स्वत: शीतलता की ओर बढ़ता है और वहाँ पहुँचकर सदा स्वत: वैसा ही बना रहता है।

यद्यपि तथाकथित कुछ मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि हिंसा भी मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु यह उनके सोचने का अपना तरीका है। उनके हिंसा–अहिंसा के कारणों को खोजने के मापदण्ड भिन्न हैं, तथापि धर्म की यह मान्यता है कि मनुष्य में सिर्फ शरीर और मन ही नहीं है बल्कि मनुष्य में एक आत्मा भी वास करती है और उस आत्मा का स्वभाव, अहिंसा, क्षमा, शान्ति, और करुणा है।

1. मानसिक अहिंसा -

हिंसा की व्याख्या करते समय प्रायः यह समझा जाता है कि यदि किसी की जान ली जा रही है, उसे दु:ख पहुँचाया जा रहा है तो हिंसा हो रही है और यदि ऐसी घटनाएँ नहीं हो रही हैं तो अहिंसा है किन्तु, यह स्थूल व्याख्या है। हमारे जीवन में बाह्य हिंसा से अधिक मानसिक हिंसा होती है। वास्तव में तो लगभग 99 प्रतिशत बाह्य हिंसा के पीछे मानसिक हिंसा ही कारण होती है। इसीलिए मानसिक हिंसा से बचने के लिए सदा सौहार्दभाव, स्वस्थ्य चिन्तन बढ़ाते रहना चाहिए।

अपने मन में किसी के अहित का विचार करना मानसिक हिंसा तो है ही; किसी दूसरे के मन को दु:ख पहुँचाना भी मानसिक हिंसा का ही एक रूप है। किसी व्यक्ति, परिवार, समाज या समग्र राष्ट्र को दु:खी करने के उद्देश्य से उनके अहित का चिन्तन करना और योजनाएँ बनाना भी मानसिक हिंसा है। जैनदर्शन में मान्यता है कि किसी को तकलीफ पहुँचाना तो दूर, इसके बारे में मन में बुरा ख्याल आना भी हिंसा है। उदाहरण के रूप में हमने किसी को मारने का विचार किया किन्तु मारा नहीं तो भी हमें हिंसा का दोष अवश्य लगेगा। कई बार फिल्म या सीरियल देखते समय खलनायक या अन्य किसी के अनिष्ट का चिन्तन करके हम व्यर्थ ही मानसिक हिंसा के भागी बन जाते हैं।

अनेक घटनाओं में यह देखा जाता है कि हिंसा का सतत चिन्तन करते रहने के कारण मनुष्य का मानसिक सन्तुलन खराब हो जाता है और वह बड़ी-बड़ी हिंसक घटनाओं को अंजाम देने लगता है। इसीलिए मानसिक रूप से अहिंसकभावना को विशेष महत्त्व दिया गया है। मनुष्य जब मन से शान्त रहेगा, हिंसक विचार नहीं करेगा तो बाह्य हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठेगा। मानसिक और वैचारिक शान्ति, हमारे अहिंसक व्यवहार का प्रमुख कारण है। मन में राग-द्वेष रूप विचारों को नहीं आने देना और क्षमा, समता, शान्ति आदि अहिंसक विचारधारा को अपने में सतत प्रवाहित होने देना ही मानसिक अहिंसा है।

2. वाचिक अहिंसा –

हिंसा का द्वितीय स्तर वाचिक हिंसा हैं। सर्वप्रथम मनुष्य हिंसा का विचार मन में लाता है फिर अपने वचनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। कई बार जनसभाओं में ऐसे-ऐसे भाषण दिए जाते हैं कि जनसमुदाय भड़क जाता है और हिंसा पर उतारू हो जाता है, यह वाचिक हिंसा का एक रूप है। अपने वचनों के माध्यम से ऐसे शब्दों का प्रयोग करना, जिससे किसी व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र की शान्ति भङ्ग हो या उन्हें दु:ख पहुँचे, वाचिक हिंसा है। व्यावहारिक रूप में गाली देना, किसी की निन्दा करना, अपशब्दों का प्रयोग करना – यह सब वाचिक हिंसा है और ऐसा नहीं करना वाचिक अहिंसा है।

कई बार लोगों को अनावश्यक बड़बड़ाने या व्यर्थ का अधिक बोलने की आदत होती है, उनसे अनायास ही वाचिक हिंसा होती रहती है; अत: वाणी पर संयम रखना ही वाचिक अहिंसा है। किसी महापुरुष ने कहा है कि अनावश्यक बोलो ही मत; जरूरत पड़े तो कम बोलो; वह भी बहुत विचारपूर्वक नाप-तोल कर बोलो; जो भी बोलो, हित-मित-प्रिय बोलो। संयमित वचनों से हमारा व्यक्तित्व निखरता है।

3. कायिक अहिंसा –

मनुष्य का मन पर संयम नहीं रहता तो वह मानसिक हिंसा करता है, उससे आगे वचनों पर संयम नहीं रहता तो वह वाचिक हिंसा करता है और इसके बाद वह कायिक हिंसा पर उतर आता है। अपने शरीर की क्रियाओं के द्वारा किसी भी प्राणी का अहित करना, कायिक हिंसा है। स्वयं हाथ-पैर चलाकर किसी की जान लेना, उसे तकलीफ पहुँचाना, अङ्गों के इशारों से किसी दूसरे को हिंसा की अनुमति या आदेश देना या फिर क्रोध में आकर स्वयं के अङ्गों का घात करना, कायिक हिंसा है।

अनेक स्थितियों में मनुष्य जाने-अनजाने भी कायिक हिंसा का दोषी बनता है। इसे अनर्थदण्ड कहा गया है। पार्क या बगीचों में रास्ते पर

चलते-फिरते निष्प्रयोजन (Unnecessary) पेड़-पौधों अथवा फूलों को तोड़ना, टहनियाँ या पत्ते तोड़ना, चलते समय पैरों के नीचे छोटे-छोटे निर्दोष जीवों का ख्याल न करना, घास-फूस को कुचलना, उन पर मल-मूत्र त्यागना, बैठे-बैठे हाथ-पाँव चलाना, नदी-तालाब किनारे बैठकर उसमें पत्थर या कूड़ा-करकट फेंकना इत्यादि अनेक उदाहरण हैं, जब हम अनायास अकारण और निष्प्रयोजन ही कायिक हिंसा करते हैं, जबकि मन में हिंसा की भावना नहीं रहती है। यहाँ प्रमाद, हिंसा का कारण बनता है। इससे पर्यावरण भी बिगड़ता है तथा इस पर हमारी आदतों से बुरा असर पड़ता है। मन-वचन-काय की अहिंसा का पालन करके हम पर्यावरण को भी सन्तुलित रख सकते हैं। मानसिक और वैचारिक प्रदूषण, शोर-शराबे का प्रदूषण और हमारी असंयमित क्रियाओं से अन्य सभी किस्म के प्रदूषण, हमारे वातावरण को दूषित बना देते हैं, जिससे शान्ति भङ्ग होती है, पर्यावरण असन्तुलित होता है। अहिंसा के द्वारा हम इसे सन्तुलित बना सकते हैं।

जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव-

जैनधर्म की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक अहिंसा ने सबको प्रभावित किया। यज्ञों में पशुबलि आदि हिंसक वृत्तियों को दूर करके उन्हें पवित्र बनाने का श्रेय भगवान महावीर की अहिंसक वाणी को जाता है। सिर्फ भारत ही नहीं वरन् भगवान महावीर की दिव्य ज्योति का प्रभाव ईरान, मिश्र, फिलस्तीन, यूनान एवं चीन में भी जा पहुँचा। फिलस्तीन में इस्सेन नाम की जाति कट्टर अहिंसक के रूप में प्रसिद्ध है। ईरान का राजकुमार अर्दरक स्वयं भगवान् महावीर के उपदेश सुनने आया करता था। फिर अर्दरक, जरथ्रुस्त एवं शाह दारा महान् ने ईरान में अहिंसा का प्रचार किया। इस विचारधारा को कलन्दर कहा जाता था जिसमें अनेक साधक हुये। एक साधक ने एक पद्य लिखा-

आहिस्ता खेरम बल्कि मा खेरम।
जेरे क़दम तो हज़ार जां अस्त।।[1]

---

1. परमपुरुषार्थ अहिंसा, 4/पृ. 39-40 प्रो. राजाराम जैन जी का लेख

अर्थात् सावधानी पूर्वक धीरे-धीरे चल, बल्कि न चल तो और भी अच्छा, क्यों कि तेरे पैर के नीचे हजारों जीवित प्राणी हैं, तू उनकी रक्षा कर।

ऐसा लगता है मानो यह पद्य जैन परम्परा की इस गाथा का फारसी रूपान्तरण हो-

तहेवुच्चावया पारणा भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुअं न गच्छेज्जा जयमेव परक्कमे।।

अर्थात् हे भव्य! चलते समय कोई प्राणी मर न जाये, तू ऐसे चल कि अपना अपना पेट पालने के लिए मार्ग में चलने वाले अन्य जीव भयभीत न हों।

सब जीना चाहते हैं

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं।।

सभी जीवन जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

(समण सुत्तं, अहिंसा सूत्र)

चतुर्थ अध्याय

हिंसा और उसके दुष्परिणाम

हिंसा का सबसे मुख्य कारण है हिंसा का संस्कार। ये संस्कार एक जन्म के नहीं हैं, जन्म-जन्मान्तरों से संचित होते रहे हैं। अपने विचारों और हितों के प्रतिकूल बात सामने आने पर वे संस्कार उत्तेजित होते हैं। उत्तेजना अपने में हिंसा है। उसके कारण हिंसा का स्थूल रूप भी सामने आ जाता है।

हिंसा कब होती है? कैसे होती है? क्यों होती है? और इसका परिणाम क्या होता है? ये सभी प्रश्न एक सार्थक समाधान की अपेक्षा रखते हैं। हिंसा का कोई काल निर्धारित नहीं होता। वह कभी भी और कहीं भी घटित हो सकती है, क्यों कि इसका असली कारण मनुष्य के भीतर बैठा है। पशु-पक्षी भी हिंसक और अहिंसक दोनों तरह के होते हैं किन्तु हिंसा-अहिंसा के बीच विवेक मात्र मनुष्य ही कर सकता है, इसी में उसका मनुष्यत्व है।

हिंसा का स्वरूप

अहिंसा की तरह हिंसा का व्याख्यान भी दो प्रकार से किया जा सकता है[1] -

1. आत्महिंसा (भावहिंसा)

2. परहिंसा (द्रव्यहिंसा)

---

1. यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।। -पु.सि.उ. - 43

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मा में यदि राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न हुए तो समझ लो हिंसा हो गई।[1] आत्मा का स्वभाव क्षमा, शान्ति व अहिंसा है। राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा, जब अपने स्वभाव में रहता है तो सुख पाता है और जब उसमें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, तब उसके स्वभाव में विघ्न पड़ता है, उसकी शान्ति भङ्ग होती है, आत्मा दु:ख पाता है; इसलिए यह आत्महिंसा है। जब हम क्रोध करते हैं, तब सर्वप्रथम स्वयं को अशान्त करते हैं; अत: यह अपनी हिंसा है, इसे भावहिंसा भी कहते हैं।

दूसरी हिंसा परहिंसा है। आत्महिंसा के भाव होने के बाद परहिंसा कभी होती भी है, और कभी नहीं भी होती। अधिकांशतया परहिंसा कभी-कभी ही होती है। पहले मनुष्य हिंसा का विचार उत्पन्न कर, तत्काल उसका परिणाम आत्म अशान्ति के रूप में भुगतता है, फिर उसके बाद उस हिंसा की अभिव्यक्ति पर अर्थात् अपने से भिन्न जीवों की हिंसा में करता है, उसे दु:ख पहुँचाता है, उसका प्राण-हरण करता है; अथवा ऐसी कोशिश करता है। यह 'परहिंसा' है, इसे द्रव्यहिंसा भी कहते हैं।

हिंसा मन-वाणी-शरीर, तीनों के माध्यम से होती है परन्तु जब हिंसा की बात आती है, तब प्राय: वाणी और शरीर के माध्यम से घटने वाली हिंसा पर ही जोर दिया जाता है। मन के माध्यम से होने वाली हिंसा को रोकना अनावश्यक या असम्भव मानकर, उसकी चर्चा छोड़ दी जाती है। जैनाचार्यों ने मन के माध्यम से होने वाले पापों को रोकने हेतु अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया है। उनकी मान्यता है कि मन के पाप रोके बिना, वचन और तन के पाप रोके नहीं जा सकते; अत: उन्होंने कहा कि प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने का या उनके घात का विचार करना, 'भावहिंसा' है और प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली और उनका घात करने वाली क्रिया 'द्रव्यहिंसा' है।

मूल में भावहिंसा अनिवार्य रूप से मौजूद रहती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि भावहिंसा के साथ द्रव्यहिंसा भी हो ही। इसका कारण यह है कि किसी प्राणी की मृत्यु हमारे सोचने या करने मात्र से नहीं होती।

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक - 44

किसी जीव की मृत्यु होने में उसकी अपनी आयु, उसका अपना प्रारब्ध आदि अनेक कारण होते हैं; इसलिए जरूरी नहीं कि बाह्य हिंसा सफल हो ही जाए। तब क्या असफलता की दशा में उसे अहिंसा कहा जाएगा? नहीं, बल्कि हिंसा की भावना, योजना, और प्रयास, ये तीनों ही हिंसा के लिए पर्याप्त कारण हैं; अत: हिंसा का प्रारम्भ अन्तरङ्ग से ही होता है, भले वह दिखायी नहीं देता।

किसी परजीव की मृत्यु मात्र भी हिंसा नहीं है, जबकि यहाँ बाह्य हिंसा प्रत्यक्षत: दिखायी दे रही है। जैसे, किसी प्राकृतिक प्रकोप में हजारों लोग मारे गए। यद्यपि यहाँ हिंसा ही हिंसा दिखाई दे रही है किन्तु यहाँ हिंसा का दोष किसी प्राणी को नहीं लगेगा क्योंकि यहाँ किसी जीव ने ऐसा करने का विचार तक नहीं किया है। इसी प्रकार डॉक्टर द्वारा किसी मरीज को बचाने की लाख कोशिश करने पर भी यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो डॉक्टर को उसकी हिंसा का दोषी नहीं माना जाता है क्योंकि उसके मन में मरीज को बचाने का ही भाव था, न कि मारने का।

हिंसा के कारण –

'मेरे सम्प्रदाय में आओगे, उसे ग्रहण कर लोगे तभी तुम्हारी मुक्ति होगी, अन्यथा नहीं होगी' – इस धारणा ने साम्प्रदायिक कट्टरता और हिंसा को एक साथ जन्म दिया है। प्राय: यह विचार सामने आता है कि धर्म के कारण बहुत रक्तपात हुआ, हिंसा की होली खेली गई, युद्ध हुए इत्यादि किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। यह सब धर्म के कारण नहीं हुआ किन्तु धर्म के नाम पर धर्म-परिवर्तन कराने की अवधारणा के आधार पर हुआ।

मनुष्य में सहज ही विस्तार करने की भावना होती है, वह अपने आपको बड़ा बनाना चाहता है, अपने अनुयायियों की संख्या भी बढ़ाना चाहता है। 'जैसा मैं सोचूँ, वैसा सभी सोचें; जैसा मैं करूँ, वैसा सभी करें; सभी मेरा अनुसरण करें' – यह चाह, एक अदम्य चाह है। इसी चाह ने

विश्वयुद्ध कराए, राष्ट्र में अशान्ति फैलाई, समाज में संघर्ष करवाया, परिवार में झगड़े कराये इत्यादि।

हिंसा एक है और उसके कारण असंख्य हैं। कर्म-सिद्धान्त की भाषा में हिंसा या मृत्यु का कारण है - पूर्वकृत कर्मों का विपाक (फल)। विज्ञान की भाषा में हिंसा का कारण है - रासायनिक असन्तुलन। शास्त्रों में कारणों की दृष्टि से हिंसा के अनेक भेद गिनाये हैं -

1. वर्तमान जीवनयापन के लिए की जाने वाली हिंसा,

2. प्रशंसा, सम्मान एवं पूजा के लिए की जाने वाली हिंसा,

3. जन्म-मरण-रोग के प्रसङ्ग में की जाने वाली हिंसा,

4. दु:ख-प्रतिकार के लिए की जाने वाली हिंसा।

आगम में हिंसा के पन्द्रह कारणों का उल्लेख है -

1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ, 5. हास्य, 7. वैर, 8. रति, 8. अरति, 9. शोक, 10. भोग, 11. अर्थ, 12. कर्म, 13. धर्म, 14. पराधीनता, और 15. मोह।

फिर भी हिंसा के सिर्फ इतने ही कारण नहीं हैं, वे सैंकड़ों या हजारों भी हो सकते हैं।

हिंसा के कारणों की खोज प्राय: बाहर से होती है। बाहर भी हिंसा के कारण हैं किन्तु वे ही अकेले कारण नहीं हैं; हिंसा के कारण बाहर तथा भीतर दोनों तरफ हैं। गरीबी, आर्थिक विषमता, आदि बाह्य कारण भी होते हैं; फिर भी मुख्य कारण है - मानसिकता, यह आन्तरिक कारण है। इनके साथ ही अन्य आन्तरिक कारण भी हैं।

जैसे शरीर के स्तर पर हिंसा के दो आन्तरिक कारण हैं -

1. नाड़ीतन्त्रीय असन्तुलन और 2. रासायनिक असन्तुलन।

सूक्ष्मशरीर के स्तर पर भी हिंसा के दो आन्तरिक कारण हैं -

1. कर्मों का उदय और 2. दूषित आभामण्डल।

चेतना के स्तर पर हिंसा के अनेक आन्तरिक कारण हैं –

1. मिथ्या दृष्टिकोण, 2. निषेधात्मक दृष्टिकोण, 3. वैचारिक आग्रह, 4. मानसिक तनाव, 5. भावनात्मक तनाव, 6. संग्रह की वृत्ति, 7. मानसिक चञ्चलता का अतिरेक, 8. अहंभाव, 9. हीनभाव आदि।

हिंसा के अनेक कारण हैं और कार्य एक है। इस तरह हिंसा इसलिए व्यापक है, क्योंकि उसके कारण अनेक हैं। गरीब समाज में गरीबी को हिंसा का कारण कहा जाता है, किन्तु भौतिक संसाधनों से परिपूर्ण अमेरिका जैसे अमीर राष्ट्रों में भी अनेक हत्याएँ रोज होती हैं। इसीलिए अमीरी भी, गरीबी से भी ज्यादा खतरनाक हो जाती है। इन सभी बातों का निष्कर्ष यह है कि वर्तमान में हिंसा की जड़ें इतनी गहरी और फैली हुई हैं कि उसका एक भाग उखाड़कर फेंक देने पर भी हिंसा का वृक्ष पूर्णतः उन्मूलित नहीं हो रहा है।

हिंसा के पक्ष में गलत तर्क –

भारतीय इतिहास में जब हिंसा अत्यन्त व्यापक हो गई और कुछ विकृत साधु–संन्यासी भी हिंसक होकर माँसाहार तक करने लगे, तब इन्द्रिय–लोलुपी मनुष्यों ने अपनी इस करनी और बुराई को तर्क के आधार पर उचित ठहराना प्रारम्भ कर दिया। धर्म–ग्रन्थों में भी हिंसा के समर्थन में प्रसङ्ग जोड़े जाने लगे; अर्थ का अनर्थ किया गया। हिंसा को पुण्य और धर्म तक से जोड़ने के प्रयास हुए।

ग्यारहवीं शती में आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा के इन गलत तर्कों के सटीक उत्तर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में दिए हैं।[1] हिंसा के पक्ष में दिए जाने वाले कुतर्कों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है –

1. देवताओं के लिए हिंसा करने से वे प्रसन्न होते हैं।

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 79 से 89

2. पूज्य-पुरुषों, विशिष्ट अतिथियों के स्वागत-सत्कार में हिंसा करना चाहिए।

3. माँसाहार से एक जीव मरता है, शाकाहार से अनेक जीव मरते हैं; इसलिए माँसाहार उचित है।

4. किसी एक हिंसक प्राणी को मारेंगे तो अनेक अहिंसक तथा अन्य जीवों की रक्षा होगी; अतः उसकी हत्या उचित है।

5. कोई जीव, रोग या परिस्थिति से दु:खी है, उसे मारने से उसका दु:ख दूर हो जाएगा, वह मुक्त हो जाएगा; अतः उसकी हिंसा उचित है।

6. सुखी जीव को मारने से उसे दूसरे जन्म में भी सुख मिलेगा; अतः उसे मारना उचित है।

7. समाधि में बैठे गुरु का यदि सिर काट दें तो वे मोक्ष चले जाएँगे।

8. दूसरों को भोजन कराने के लिए अपने शरीर को काटकर भी माँस खिलाना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र के समय हिंसा विषयक ये धारणाएँ प्रचलित थीं, उन्होंने अपने ग्रन्थ में इनका अलग-अलग उल्लेख करते हुए उनका समाधान किया कि ये सभी तर्क गलत हैं। जो हिंसा है, वह हिंसा ही है, वह चाहे धर्म या धर्मात्मा, किसी के भी उद्देश्य से क्यों न की जाए, उसका धर्म या मोक्ष से कोई लेना-देना नहीं है।

वर्तमान में भी स्वार्थी और जिह्वा के लोलुपी मनुष्य, हिंसा के पक्ष में अनेक कुतर्क देते हैं।

जैसे, यदि हम जानवरों को मारकर नहीं खाएँगे तो इनकी संख्या इतनी बढ़ जाएगी कि संसार में रहना मुश्किल हो जाएगा। पशुधन जब काम का न रह जाए तो उसे बूचड़खाने में भेजकर उसके चमड़े और माँस का उपयोग करना ही उचित है इत्यादि, किन्तु यह सारा चिन्तन अनिष्ट और हिंसक मनोवृत्ति का सूचक और उसका प्रबल पोषक है।

यदि इस तरह के तर्कों को उचित मान लिया जाय तो पूरे विश्व में दिनों दिन बढ़कर विकराल रूप ले रही मनुष्यों की जनसंख्या के विषय में भी यही तर्क लागू हो सकता है, तब क्या मनुष्यों को मार-मारकर जनसंख्या का नियन्त्रण उचित होगा? वास्तविकता तो यही है कि प्रकृति स्वयं अपना सन्तुलन बनाना जानती है; उसे अपना कार्य अपने आप करने देना चाहिए। हम उसमें हस्तक्षेप करके बाधक न बनकर हिंसक मनोवृत्ति से स्वयं को अलग रखें। यही प्रकृति के साथ हमारा बहुत बड़ा सहयोग होगा।

नयी खोजों से निष्कर्ष सामने आये हैं कि जानवरों, जीव-जन्तुओं की कमी और उनकी प्रजातियों के समाप्त होने से हमारा पर्यावरण असन्तुलित हो रहा है और पृथ्वी विनाश की ओर बढ़ रही है।[1]

हिंसा के प्रकार -

हिंसा के अनेक प्रकार हैं। विविध माध्यमों से, विविध तरीकों से हिंसा होती है। जैन परम्परा में स्थूलरूप से हिंसा के चार भेद इस प्रकार माने गए हैं -

1. सङ्कल्पी हिंसा - सङ्कल्पपूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना 'सङ्कल्पी हिंसा' है। आतंकवाद, साम्प्रदायिक दङ्गों, जाति-विरोधी हमलों और माँस-भक्षण आदि के लिए किया गया शिकार, इत्यादि प्रवृत्तियों में होने वाली हिंसा इस परिभाषा में आती है। धार्मिक अनुष्ठानों का बहाना लेकर अथवा देवी-देवताओं के समक्ष की जाने वाली बलि आदि प्रथाएँ भी सङ्कल्पी हिंसा के अन्तर्गत ही हैं।

2. आरम्भी हिंसा - घर गृहस्थी एवं अपने जीवन के आवश्यक कार्यों में; जैसे, भोजन बनाने, नहाने-धोने, वस्तुओं को रखने-उठाने, चलने-

---

1. गत दो हजार वर्षों में लगभग 160 स्तनपायी जीव, 88 पक्षी प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी है और वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार आगामी 25 वर्षों में एक प्रजाति प्रति मिनट की दर से विलुप्त हो जायेंगी। -विज्ञान प्रगति, अक्टूबर-99, पृ. 47

फिरने, उठने-बैठने, इत्यादि कार्यों में अपरिहार्यरूप से जो जीवघात होता है, वह 'आरम्भी हिंसा' है।

3. उद्योगी हिंसा - आजीविका उपार्जन के लिए नौकरी, कृषिकार्य और उद्योग-व्यापार आदि कार्यों में अपरिहार्यरूप से जो जीव-हिंसा होती है, वह सब 'उद्योगी हिंसा' की श्रेणी में आती है। किन्तु अहिंसा का समर्थक मनुष्य वही व्यापार करेगा, जिसमें कम से कम जीवघात हो और अन्य का शोषण न हो।

4. विरोधी हिंसा - राष्ट्र-धर्म-समाज या अपने कुटुम्ब-परिवार स्वजन आदि पर आये संकट को दूर करने या उनकी रक्षा या आत्मरक्षा करते हुए किसी आक्रमणकारी की हिंसा, न चाहते हुए भी हो जाती है, वह 'विरोधी हिंसा' कहलाती है। क्योंकि यहाँ उद्देश्य रक्षामात्र था, उन्हें मारना नहीं।

इन चार प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ मनुष्य, जो साधु या संन्यासी नहीं है, वह प्रथम सङ्कल्पी हिंसा का पूर्णरूप से त्याग करता है। शेष तीन हिंसा उसके गृहस्थ सामाजिक जीवन में होती तो अवश्य है और वहाँ भी वह हिंसा से बचने का प्रयास करता है किन्तु मजबूरीवश हिंसा हो जाती है।

क्या हिंसा का पूर्ण-त्याग सम्भव है? -

यदि गृहस्थ जीवन है तो हिंसा किसी न किसी रूप में अवश्य होगी, फिर पूर्ण अहिंसा कैसे सम्भव है? - यह आज का सामान्य प्रश्न है। शास्त्रों में साधु-संन्यासियों के लिए सम्पूर्ण अहिंसा के लिए अहिंसा महाव्रत का वर्णन है। गृहस्थ के लिए पूर्ण अहिंसा सम्भव नहीं है, इस कारण उसके लिए व्यवहारिक अहिंसा का मार्ग है 'हिंसा का अल्पीकरण'। अर्थात् यथासम्भव कम से कम हिंसा हो। तात्पर्य यह है कि जीने के लिए जो बहुत जरूरी नहीं, वैसी हिंसा का त्याग किया जा सकता है।

इस दृष्टि से हम हिंसा को दो स्तरों में विभाजित कर सकते हैं-

1. सार्थक हिंसा और 2. निरर्थक हिंसा

सार्थक हिंसा से तात्पर्य है – प्रयोजनमूलक आवश्यक हिंसा, जिसके बिना हम जी नहीं सकते। जैसे, पौधों या वृक्षों से भोजन–सामग्री लेना आदि। दूसरी, अनर्थक अथवा निरर्थक हिंसा का तात्पर्य है – निष्प्रयोजन हिंसा। जैसे, हमारे जीवन में ऐसी भी अनेक प्रकार की ऐसी हिंसाएँ होती हैं, जिनको छोड़ने से हमारी कोई हानि नहीं होती। व्यर्थ की हिंसा से हमारा जीवन भरा पड़ा है; अतः यदि गृहस्थ पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो हिंसा छोड़ने का प्रारम्भ तो अनावश्यक हिंसा को छोड़कर किया ही जा सकता है। जो–जो आवश्यक नहीं, उसे छोड़ते चले जाएँ, इसके बाद जो अति आवश्यक बचेगा, वही जीवन का यथार्थ होगा, सार्थक हिंसा होगी।

खाने के लिए वृक्ष से पके हुए फल तोड़ना अपराध नहीं है, किन्तु उसके लिए पूरी डाल तोड़ लेना या पूरा वृक्ष काट डालना, अपराध है। यही सार्थक हिंसा और निर्थक हिंसा में भेद है।

हिंसा के दुष्परिणाम –

आज हिंसा के भयङ्कर दुष्परिणाम सभी के सामने हैं। परमाणु बमों के प्रयोग से हिरोशिमा और नागासाकी की जो हालत हुई, वह किसी से छिपी नहीं है। आज भी उस युद्ध के परिणाम की तस्वीरें देख लें तो दिल दहल उठता है। प्रश्न उठता है अस्तित्व की कीमत पर इतनी हिंसा क्यों? जब मनुष्य ही नहीं रहेगा तो किसका राज्य रहेगा और किसकी सत्ता रहेगी? अपने अहं और अनियन्त्रित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अपनी शक्तियों का दुरुपयोग इस कदर कर रहा है कि उसकी हिंसा से न परिवार सुरक्षित है, न समाज, न राष्ट्र और न ही विश्व।

आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगे, व्यक्तिगत और अन्यान्य सम्पत्ति के लिए होने वाले संघर्ष और राज्य, भाषा एवं धर्म को लेकर होने वाली तथा विविध राजनैतिक हिंसाएँ क्या मानव–जीवन के हित में हैं? उत्तर होगा – नहीं; तो फिर यह सब व्यर्थ में क्यों और किसलिए की जाती हैं?

हम अपने संसाधनों के विकास के लिए निरन्तर वृक्षों को काट रहे हैं, पर्वतों को उखाड़ रहे हैं, जङ्गलों को नष्ट कर रहे हैं, प्रकृति का उपयोग करने की जगह उसका दोहन कर रहे हैं। यह कार्य सम्पूर्ण विश्व में चल रहा है। पहले हम इस विषय पर चिन्तन करना अनावश्यक समझते थे किन्तु अब उसके दुष्परिणाम प्राकृतिक प्रकोप, मानसून असन्तुलन, ओजोन छिद्र, और ग्लोबल वार्मिंग के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। आज हम इस विषय पर सोचने लगे हैं, ये सब वे कार्य हैं, जिन्हें हम हिंसा मानते ही नहीं थे।

पर्यावरण को सन्तुलित रखने वाले जानवरों और पशु-पक्षियों को भोजन की वस्तु बनाया जा रहा हैं, जीभ के स्वाद के लिए निरीह, मूक जीवों का कत्ल किया जा रहा है। मांस निर्यात हुतु रोज नये नये कत्लकारखाने खुल रहे हैं। यहाँ प्रश्न है, इतने विशाल स्तर पर होने वाली जीवहिंसा तथा जीवों के करुण क्रन्दन और चीखों का असर हमारे पर्यावरण पर पड़े बिना कैसे रह सकता है? टाइम्स ऑफ इण्डिया[1] के सम्पादकीय पृष्ठ पर एक ब्रिटिश रिसर्च के परिणाम प्रकाशित हुए हैं, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि ग्लोबल वार्मिंग (निरन्तर बढ़ते हुए तापमान) के लिए ये बूचड़खाने और माँसाहार जिम्मेदार हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिकी के तीन प्राध्यापकों डॉ. मदनमोहन बजाज, डॉ. इब्राहीम तथा डॉ. विजयराज सिंह ने स्पष्ट गणितीय वैज्ञानिक गवेषणाओं के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दुनिया भर में होने वाली समस्त प्राकृतिक आपदाओं- सूखा, बाढ़, भूकम्प, चक्रवात का कारण हिंसा और हत्याएं हैं।[2]

गरीबों का शोषण एवं गर्भपात जैसी हिंसा से भी हम पाप के भागीदार तो बन ही रहे हैं, साथ ही अपने पर्यावरण को प्रदूषित करके वातावरण को हिंसक बना रहे हैं, जिसका सीधा असर मनुष्य की सुख-शान्ति पर पड़ता है। मनुष्य जैसा खाएगा, वैसा ही सोचेगा।

1. 1-May - 2007 ; Times of India
2. तुलसी प्रज्ञा, जनवरी-2002, पृ. 44

बहुत पुरानी कहावत है – 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।' मनुष्य अण्डा–माँस खाएगा, मद्यपान करेगा तो उसकी मानसिकप्रवृत्ति भी हिंसक होगी। मनुष्य से ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व निर्मित होता है। मनुष्य का चरित्र गिरेगा तो वह हिंसक होगा, फिर इसका प्रभाव परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व पर भी पड़ेगा तथा जब विश्व हिंसक बनेगा तो उसका प्रभाव मानव–जीवन और उसके अस्तित्व पर भी अवश्य पड़ेगा।

मानव की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए हर हाल में हमें उसके मूलधर्म 'अहिंसा' की चेतना को जीवित रखना होगा, क्योंकि अहिंसा रहेगी तो अस्तित्व रहेगा; अन्यथा विनाश को कोई रोक नहीं सकेगा।

हिंसा और उसके दुष्परिणामों को देखकर यह बात अब अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर की जाने लगी है कि यह विश्व प्राकृतिक दृष्टि से अखण्ड है। प्रत्येक जीवधारी उस अखण्डता का एक अविभाजित भाग है। किसी भी एक भाग को कष्ट होगा तो उसका सूक्ष्म दुष्प्रभाव सभी जीवधारियों पर पड़ेगा। अभी पर्यावरण के स्तर पर यह बात स्वीकार की जाने लगी है। विश्व की इस आन्तरिक व्यवस्था को अभी तक सिर्फ अध्यात्म समझ रहा था किन्तु विज्ञान भी इस तथ्य को समझने लगा है।

अहिंसा की दृष्टि सभी जीवधारियों को समान दृष्टि से देखती है। आज अहिंसा के स्वर को मात्र शास्त्रों के आधार पर प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता, उसके लिए हमें अनेक तर्क जुटाने होंगे। इस काम में विज्ञान हमारी मदद कर सकता है।

पंचम अध्याय

अहिंसा की आध्यात्मिक सूक्ष्म व्याख्या

अहिंसा की व्यावहारिक उपयोगिता के बारे में जितना कहा जाए, उतना कम है। जीव-व्यवहार में अहिंसा आ जाए तो जीवन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदर्श को प्राप्त कर सकता है। अहिंसा के व्यावहारिकपक्ष की अनिवार्य उपस्थिति के साथ-साथ उसके आध्यात्मिकपक्ष पर विचार करना भी आवश्यक है। अहिंसा का आध्यात्मिक सूक्ष्म दृष्टिकोण यदि साथ में रहेगा तो मार्ग में कहीं रुकावट नहीं आयेगी।

अहिंसा की आध्यात्मिक व्याख्या समझने के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पहले से ही होनी चाहिए। अपात्र व्यक्ति को यह व्याख्या समझ में आना असम्भव भले ही न हो किन्तु कठिन अवश्य है। इस व्याख्या को आत्मसात् करके ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य, अहिंसाधर्म की अवश्य श्रीवृद्धि करेगा किन्तु ज्ञान न होने पर भी स्वयं को ज्ञानी मानकर, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मनुष्य इस सूक्ष्म व्याख्या को गलत तरह से समझकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति भी कर सकता है, अतः इसे समझने के लिए अत्यन्त धैर्य तथा विवेक की आवश्यकता है।

आत्मा की अमरता का सिद्धान्त

आत्मा उस शुद्ध चैतन्यतत्त्व का नाम है, जो मूलतः अविनाशी है अर्थात् आत्मा का कभी नाश नहीं होता। आत्मा, शरीर में व्याप्त होकर रहता है। शरीर अस्थायी व अनित्य है क्योंकि उसका नवीन संयोग होता है।

अज्ञानवश ये जीव शरीर के जन्म को आत्मा का जन्म और शरीर के मरण को आत्मा का मरण मानते हैं लेकिन शरीर में स्थित आत्मा का न तो जन्म होता है और न ही वह मरता है। मरण उसी का होता है, जिसका जन्म हुआ हो। जो अजन्मा है, उसकी मृत्यु कैसी? शरीर के मरने पर भी वह नहीं मरता।[1]

यदि हम या आप कोई चाहे तो भी आत्मा को न तो उत्पन्न कर सकते हैं और न ही मार सकते हैं फिर मृत्यु किसकी होती है? मरता कौन है? हिंसा कौन करता है? – यह प्रश्न उठता है। आत्मा नित्य और अविनाशी है – यह सिद्धान्त भारतीयदर्शन की प्रमुख धारा में सम्मिलित है। गीता का वाक्य है –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।[2]

अर्थात् असत् का कभी उत्पाद नहीं होता और सत् का कभी नाश नहीं होता।

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।[3]

अर्थात् जो सारे शरीर में व्याप्त है, उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

यह आत्मा का न तो कभी किसी शस्त्र के द्वारा खण्ड-खण्ड किया जा सकता है, न अग्नि के द्वारा जलाया जा सकता है, न जल के द्वारा भिगोया या वायु द्वारा सुखाया जा सकता है।[4]

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हान्तिकम्।।[5]

1. गीता 2/20
2. गीता, 2/16
3. गीता, 2/17
4. गीता, 2/17
5. गीता, 2/21

जो ज्ञानी मनुष्य यह जानता है कि आत्मा अविनाशी, अजन्मा, शाश्वत और अव्यय है, वह भला किसी को कैसे मार सकता है या मरवा सकता है?

प्रथम शती के आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार नामक ग्रन्थ में कहा कि केवल व्यावहारिक दृष्टि से जीव और शरीर एक है क्योंकि जीव, शरीर में रहता है किन्तु निश्चयदृष्टि या वास्तविक परमार्थ दृष्टि से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं –

ववहारणओ भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्य जीवो, देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।[1]

यद्यपि शरीर के संयोग के कारण पर्यायदृष्टि से जीव (आत्मा) भी अनित्य कहलाता है तथापि वह स्वरूपतः द्रव्यदृष्टि से नित्य एवं अविनाशी है।

जब भी जीवों की हिंसा–अहिंसा की चर्चा होती है, तब यह सिद्धान्त हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि जब आत्मा का जन्म या मरण ही नहीं होता, तब हिंसा किसकी होती है? यदि कहा जाए कि शरीर की हिंसा होती है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि शरीर तो जड़ (अचेतन) है और जड़ की हिंसा नहीं हो सकती।

इस दुनिया में जब प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है तथा उसका प्रत्येक परिणमन भी स्वतन्त्र रूप से हो रहा है, तब वहाँ कोई किसी को मारता है या जिन्दा करता है – यह बात कहाँ से आयी? साथ ही प्रत्येक जीव का जीवन उसके आयुकर्म के स्वाधीन है और मृत्यु आयुकर्म पूर्ण होने पर ही होती है अर्थात् जब तक आयुकर्म शेष है, तब तक मृत्यु नहीं हो सकती तो किसी भी जीव की हिंसा कैसे हो सकती है?

वीतरागी क्रिया से बन्धन नहीं

आत्मा में रागादि विकारीपरिणामों की उत्पत्ति होने पर ही हिंसा होती है, अन्यथा नहीं होती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति, शरीर पर तेल लगाकर

1. समयसार–आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा–37

व्यायामशाला में अथवा कुश्ती के स्थल पर जहाँ धूल या रेत होती है, वहाँ जाता है और व्यायाम करता है अथवा कुश्ती लड़ता है, तब उसके शरीर पर रेत चिपक जाती है। निश्चित ही उसके शरीर पर रेत चिपकने का मूलकारण, शरीर पर लगे तेल की चिकनाई है, न कि कुश्ती लड़ना आदि तथा बिना तेल लगाये सूखे बदन रेत पर कुश्ती लड़ने पर भी रेत, शरीर पर चिपकती नहीं है; स्वतः झर जाती है। उसी प्रकार रागी जीव, जब क्रिया करता है, तब उसे कर्मों का बन्धन जरूर होता है किन्तु ज्ञानी जीव, जब क्रिया करता है, तब उसे बन्धन नहीं होता अर्थात् उसके द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं होती।[1]

जीवन-मरण सुख-दुःख कर्मों पर निर्भर

प्रत्येक संसारी जीव का जीना और मरना, उसके आयुकर्म से होता है। हम एक-दूसरे को अपनी आयु दे नहीं सकते और न ही छीन सकते हैं। अज्ञानी लोग ही ऐसा मानते हैं कि मैं मार सकता हूँ या फिर मैं जीवन दे सकता हूँ। ज्ञानी लोग मानते हैं कि प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मों के उदय से सुखी या दुःखी होते हैं। कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं करता है, ना ही कर सकता है क्योंकि हम एक-दूसरे के कर्म ले या दे नहीं सकते।[2]

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहि।
सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥[3]

जो मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूँ या परजीव, मुझे मारते हैं, वह जीव, मूढ़, मोही और अज्ञानी है वही हिंसक है और जो ऐसा नहीं मानता, वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, वही अहिंसक है।

भावों पर हिंसा-अहिंसा की निर्भरता

हिंसा में जीव का घात (वध) हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, अतः जीव का वधमात्र हिंसा का मापदण्ड नहीं है। अहिंसा में

1. समयसार, गाथा 237 से 246 तक
2. समयसार, गाथा 248 से 258 तक
3. समयसार, गाथा - 247

जीवरक्षा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है; अत: जीवरक्षामात्र भी अहिंसा का मापदण्ड नहीं है। जीव, मरें या न मरें, आत्मा में कर्मों का बन्धन, अध्यवसानादि भावों से ही होता है, यही परमार्थदृष्टि है –

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स॥[1]

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने अहिंसा के महान ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी है–

यस्मात्सकषाय: सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥[2]

अर्थात् जीव, कषायभाव से युक्त होने पर प्रथम स्वयं ही स्वयं का घात करता है, बाद में दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा न हो।

कर्म-बन्धन को ही हिंसा का सबसे बड़ा प्रमाण माना गया है। आत्मा में कर्मों का बन्धन मूलत: राग के निमित्त से होता है, अत: राग ही सबसे बड़ी हिंसा है। आत्मा में जितने अंशों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है, उतने अंशों में बन्धन नहीं है अर्थात् अहिंसा है और जितने अंशों में राग है, उतने अंशों में बन्धन होता है।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।[3]

पण्डित आशाधरजी ने कहा भी है –

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसा रागाद्युदुद्भूतिरहिंसा तदनुद्भव:॥[4]

1. समयसार, गाथा 262
2. श्लोक – 47
3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 212-214
4. अनगारधर्मामृत, 4/26

अर्थात् जिनागम का यह उत्कृष्ट सार अपने चित्त में निश्चितरूप से अङ्कित करें कि राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति हिंसा है और उसकी अनुत्पत्ति अहिंसा है।

अतः यह निश्चित है कि हिंसा, जीव के भावों से सम्बन्धित है। भाव, अशुद्ध होंगे तो सबसे पहले स्वयं आत्मा ही दूषित होगी और यह सबसे बड़ी हिंसा है। अशुद्धभाव जब क्रिया में परिणमित होंगे तो दूसरों को दुःखी करना तथा प्राणों का हरण करना रूप बाह्य हिंसा प्रदर्शित होगी, जिसे द्रव्यहिंसा कहा जाता है। यदि यह न भी हो, तब भी हिंसा तो हो ही गयी, क्योंकि कर्मबन्ध भावों से ही होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के बीच समन्वय स्थापित करते हुए कहते हैं -

सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा, परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतनिवृतिःपरिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥[1]

अर्थात् यद्यपि परवस्तु के कारण रञ्चमात्र भी हिंसा नहीं होती है; तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए, हिंसा के आयतन या स्थान बाह्य परिग्रहादि को भी छोड़ देना चाहिए।

अध्यात्म और अध्यात्माभास

अहिंसा की उक्त व्याख्या, अज्ञानी को स्वच्छन्द भी बना सकती है। क्योंकि इस सिद्धान्त से प्रत्येक मनुष्य हिंसा करता हुआ भी स्वयं को अहिंसक कहने का साहस कर सकेगा, उसके पास 'मेरी भावना तो शुद्ध है' - यह एक अमोघ साधन आ जाता है। वह इस आध्यात्मिक व्याख्या को कवच बनाकर अपने द्वारा की गयी बाह्य हिंसा को उचित और तर्क-संगत ठहराने का प्रयास करेगा, वह अपने पक्ष में निम्नलिखित कुतर्क भी दे सकता है -

---

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 49

1. मैंने जो हिंसा की, उसमें मैं निमित्तमात्र बना; वस्तुत: मैं उसका कर्ता नहीं हूँ।

2. मुझसे हिंसा हो गई, किन्तु मेरी भावना शुद्ध थी; अत: दोष नहीं लगना चाहिए।

3. जब प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र व निश्चित है तो मेरे द्वारा यह हिंसा होना भी निश्चित ही है; अत: मेरा क्या दोष?

4. आत्मा कभी नहीं मरती; अत: मेरे द्वारा हत्या कैसे हुई? अत: यह दोष मिथ्या है।

5. हमने तो अच्छा काम किया है क्योंकि शरीर से बँधी आत्मा को मुक्त कर दिया है।

इस तरह के अनेक कुतर्कों का सहारा लेकर कई लोग अध्यात्म के मूल रहस्य को न समझते हुए हिंसा को तर्क-सम्मत तथा धर्म-सम्मत ठहराने की कोशिश करते हैं, ताकि उनकी हिंसा की प्रवृत्ति भी बनी रहे और वे निर्दोष भी कहलाएँ, इसे ही अध्यात्म को पढ़कर स्वच्छन्द होना कहते हैं।

यहाँ उक्त समस्या के समाधान के लिए इस बात का स्पष्टीकरण जरूरी है - कि इतना उत्कृष्ट अध्यात्म किस स्थिति में होता है? - सामान्य गृहस्थ व्यक्ति, व्रतों का पूर्ण पालन करने में असमर्थ है, अत: उसके लिए हिंसा के अल्पीकरण की बात कही गयी है। संयमी महाव्रती मुनि के लिए पूर्ण अहिंसा महाव्रत की बात कही है। किसी भी जीव के प्राणों का वियोग, असीम वेदना का कारण होता है; अत: व्यवहार से यही हिंसा है और इस हिंसा में जो जीव निमित्त बनता है, उसके भावों के अनुसार उसे भाव और द्रव्य, दोनों तरह का बन्ध होता है। इस बन्ध का परिणाम भी उसे आगे जाकर स्वयं भुगतना पड़ता है। यह भी द्रव्य का स्वत: और स्वतन्त्र परिणमन ही है; अत: इन कुतर्कों से हिंसा को करणीय मानना या स्वयं को निर्दोष मानना, स्वच्छन्दता है, जिसका बुरा परिणाम स्वच्छन्दी जीव स्वयं भुगतता है।

रत्नत्रयधारी संयमी मुनि, जो अहिंसा महाव्रत के धारी हैं, उन्हें बहुत ही सावधानीपूर्वक आध्यात्मिक अहिंसा का पालन अनिवार्य हो जाता है; अत: निष्प्रमाद आचरण करते हुए भी यदि किसी जीव का घात उनके निमित्त से हो जाता है तो अहिंसा की स्थूल परिभाषाओं से ऊपर उठकर बाह्य हिंसा होते हुए भी उन्हें हिंसा का दोष नहीं लगता है। लेकिन ऐसी अहिंसा का पालन करने की सामर्थ्य ऐसे ही यत्नाचारियों में होती है; अत: वे स्वच्छन्दी नहीं होते हैं।

यद्यपि असंयमी अवस्था में भी मानसिक और बौद्धिकस्तर पर इस आध्यात्मिक व्याख्या को समझने में कोई दोष नहीं है; प्रत्युत अच्छा ही है किन्तु अपनी भूमिका से ऊपर उठे बिना, उसी अवस्था में उसका अक्षरश: पालन करने की कोशिश करना भी हानिकारक हो जाता है। यह कोशिश सामाजिक दृष्टि से भी विरोधाभास की स्थिति का कारण बनती है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी।

उपर्युक्त कुतर्कों के विपरीत ज्ञानी व्यक्ति, अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को समझकर निम्नप्रकार विचार करता हैं –

1. जब आत्मा मरता या जीता नहीं, तब हम किसी को मारने वाले या जिन्दा रखने वाले कौन होते है?

2. भावना, शुद्ध होने पर हिंसा हो ही नहीं सकती; अत: यदि हिंसा हुई है तो उसमें कहीं न कहीं मेरा ही दोष है।

3. जब जीव, आयुकर्म पूर्ण होने पर ही शरीर छोड़ता है, तब हम उसमें निमित्त भी क्यों बनें? उसका विकल्प भी क्यों करें?

4. प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कारणों से स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो रहा है; अत: कोई मेरा कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता और न मैं किसी का भला-बुरा कर सकता हूँ।

5. मुझे अपनी आत्मा को राग-द्वेषादि विकारीभावों (हिंसा) से बचाना है; उससे बाह्य अहिंसा तो स्वत: ही जीवन में आ जाएगी।

एक ही सिद्धान्त को अलग-अलग सन्दर्भ में स्वीकार करने से दो तरह के परिणाम सामने आते हैं। अध्यात्माभासी अज्ञानी के विचार, पापकर्म के बन्धनरूप हैं और आध्यात्मिक ज्ञानी के विचार कर्मों की निर्जरा (समाप्ति) के कारण हैं। इनमे एक का विचार जीवन को हिंसारूपी महा दल-दल में फँसाता है तो दूसरे का विचार संसारचक्र से बाहर निकालने का कार्य करता है।

राग ही हिंसा है

रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा।।

जिनेश्वर ने कहा है- राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति हिंसा है।

(समणसुत्तं, अहिंसासूत्र)

षष्ठ अध्याय

गाँधीदर्शन

अहिंसा के प्रयोग तथा भारतीय संविधान

सत्य और अहिंसा के बल पर भारतवर्ष को स्वतन्त्रता दिलाने वाले अहिंसक क्रान्तिकारी मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म, 2 अक्टूबर 1869 को पोरबन्दर, गुजरात में हुआ था। पिता करमचन्द गाँधी, पोरबन्दर राज्य के प्रधानमन्त्री, राजस्थानिक कोर के सभासद, राजकोट में दीवान और कुछ समय तक बीकानेर में दीवान पद पर कार्यरत रहे। माँ पुतलीबाई जैन परिवार से थीं। वे धार्मिक प्रवृत्ति की घरेलू महिलारत्न थीं। जैनधर्म को मानने वाले उनके माता-पिता आजीवन सत्यनिष्ठ, अहिंसक और ईमानदार रहे।[1]

विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भिक काल में गाँधीजी आदर्श विद्यार्थी नहीं थे। अपने हृष्ट-पुष्ट, ताकतवर व माँसाहारी मित्र के प्रभाव में उन्होंने एकाध बार धूम्रपान व माँसाहार के लिए घर में चोरी भी की, किन्तु इस कार्य से उन्हें आत्म-ग्लानि हुई, फलस्वरूप इस दोष के लिए उन्होंने अपने पिता को एक पत्र लिखा और सन्मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा ली। गाँधीजी का विवाह मात्र 13 वर्ष की आयु में कस्तूरबा के साथ हो गया। सन् 1887 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद 18 वर्ष की उम्र में आप अध्ययन हेतु विदेश चले गए।

माँ पुतलीबाई, गाँधीजी को विदेश नहीं जाने देना चाहती थीं। उनका मन्तव्य था कि विदेश जाने पर व्यक्ति का चरित्र नष्ट हो जाता है। गाँधीजी ने

1. His Parents were followers of the Jain school of Hinduism; which regards Ahimsa; the doctrine of non-injury to any from of life; as on of its basic principal. - Mahatma Gandhi, by Romain Rolland; Pg-3

बहुत जिद की तो उनकी माँ उन्हें एक जैन मुनि के दर्शन के लिए ले गईं। गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में इस बात का उल्लेख किया है कि जैन मुनि ने मुझे तीन प्रतिज्ञाएँ दिलवाईं और मैंने जब उन प्रतिज्ञाओं को माना, तभी माँ ने विदेश जाकर पढ़ने हेतु अनुमति दी।[1] वे तीन प्रतिज्ञाएँ थीं-

1. कभी माँस नहीं खाऊँगा।
2. कभी मदिरा नहीं पिऊँगा।
3. कभी परस्त्री-संसर्ग नहीं करूँगा।

विदेश-प्रवास के दौरान उन्हें अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा। जैसे, माँस-मदिरा के सेवन के लिए अत्यधिक दबाव झेलना पड़ा, किन्तु माँ को दिये वचन का उन्होंने निर्वाह किया। पश्चिमी संस्कृति में स्वयं को समायोजित करने (नृत्य-सङ्गीत-वादन सीखने) के उनके प्रयास असफल रहे। शायद गाँधी के अन्दर विद्यमान भारतीयता ने उनके इस पाश्चात्य चोले को धारण करने के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किए और गाँधी के रूप में जो भारतीय इंग्लैण्ड गया था, वह भारतीय रूप में ही वापस आ गया।

तेईस वर्षों तक देश से बाहर रहने के बाद जब गाँधीजी स्वदेश वापस आए, तब भारत में स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात हो चुका था। सर ए. ओ. ह्यूम और सर वेडरवर्न, इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना कर चुके थे। इस कांग्रेस का प्रयास यह था कि अंग्रेजों का शासन बना रहे और भारत का कोई नुकसान न हो। गाँधीजी ने अंग्रेजी शासन से स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तरों के मध्य कांग्रेस का लक्ष्य 'हिन्द स्वराज' निर्धारित किया। साथ ही अत्यन्त धैर्य के साथ गाँधीजी ने भारत की समस्याओं का अध्ययन किया।

गांधी जी का दर्शन-

गांधी जी कोई दार्शनिक नहीं थे और न ही उनमें किन्हीं दार्शनिकों जैसे चिन्ह दिखायी देते थे। अपने व्याख्यानों, लेखों, पत्रों और

1. An autobiography 'My experiment with truth' - M.K. Gandhi; Pg-33

टिप्पणियों से गांधी जी ने अत्यन्त सहज ढंग से सीधी सरल बातें कहीं हैं। वे एक सफल रचनाकार थे। उन्होंने मनुष्य के निर्माण के लिए तथा भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए जो सूत्र बनाये वास्तव में वह ही हमारे लिए गांधी दर्शन है। वे सूत्र हैं-

1. सत्याग्रह-

सत्याग्रह का अर्थ है- आत्मबल। सत्याग्रह से तात्पर्य यह है कि ऐसी बात या कानून जो हमारे धर्म, अस्तित्त्व और मानवता के खिलाफ हो और उसे हम पसन्द न करते हों तो उसे मानने का नैसर्गिक अधिकार हमारे पास है। इसके लिए हम सहर्ष सज़ा भुगत लेंगे लेकिन अनीति और अधर्म पर नहीं चलेंगे। सत्य का आग्रह तो होना ही चाहिए। गांधी जी मानते थे कि **'कानून हमें पसन्द न हो तो भी उनके मुताबिक चलना चाहिए, यह सिखावन मर्दानगी के खिलाफ है, धर्म के खिलाफ है और गुलामी की हद है।'** इसीलिए सत्याग्रही व्यक्ति न तो उस कानून के अनुसार चलेगा और न ही उस कानून बनाने वाले को मारने का प्रयास करेगा।

गांधी जी ने इसी सत्याग्रह के बल पर करोड़ों जनता के मन में यह विश्वास पैदा किया कि करोड़ों लोगों के आत्मबल के आगे मुट्ठीभर अंग्रेजों का तोपबल भी किसी काम का नहीं है।

2. छुआछूत का उन्मूलन-

गांधी जी ने देखा कि भारत में अस्पृश्यता अर्थात् छुआछूत सबसे बड़ी कुरीति है। गांधी जी ने इस कुरीति को दूर करने के लिए जो संघर्ष किया वह राष्ट्र निर्माण की एक बहुत बड़ी मिसाल बन गया। उन्होंने कहा यदि कोई यह सिद्ध कर दे कि अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का एक अनिवार्य अंग है, तो मैं हिन्दूधर्म को त्याग दूँगा। पहली बार गांधी जी ने ही अछूतों के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया था, यह आज भी प्रयोग किया जा रहा है।

गांधी जी का स्पष्ट मानना था कि कोई भी मनुष्य अछूत नहीं हो सकता क्यों कि सभी में एक ही अग्नि की चिंगारियाँ विद्यमान हैं। किसी को

जन्म से अछूत मानना गलत है। छूआछूत का आचरण गैर धार्मिक है और इसे समाप्त किया जाना चाहिए। गांधी जी के छुआछूत उन्मूलन आंदोलन का इतना व्यापक असर हुआ कि भारत ने अपने नये संविधान में अस्पृश्यता का अन्त कर दिया। यह मानवता के लिए गाँधी जी की सबसे बड़ी देन थी।

3. श्रम की महिमा–

गांधी जी ने देखा कि भारत में कामचोरी, प्रमाद और सुविधावाद बढ़ रहा है, जो देश के लिए घातक है। बिना श्रम किये मनुष्य को भोजन करने का कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने गीता की वाणी पढ़ी, जिसमें लिखा है– 'जो व्यक्ति यज्ञ के बिना भोजन करता है वह चोर है। गांधी जी यज्ञ का अर्थ शरीर श्रम लगाते थे। उनके अनुसार शरीर–श्रम का आदर्शरूप खेती था। उनका कहना था कि 'यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊँच–नीच का भेद दूर हो जायेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक बनाना है, उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण है।' गाँधी जी स्वयं बिना शारीरिक श्रम के भोजन ग्रहण नहीं करते थे।

4. पंचायती राज–

गाँधी जी गाँवों को बहुत महत्त्व देते थे। उनका मानना था कि भारत जैसे बड़े देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में बसती है। गाँवों के प्रति उपेक्षा गाँधी जी को सहन नहीं थी। प्राचीनकाल से ही भारत के गाँव अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए सदा स्वाश्रयी रहे हैं। पंचायती राज के द्वारा वे स्वयं ही शासित होकर राष्ट्र के मेरुदण्ड बन सकते हैं। गांधी जी भारत के सात लाख गाँवों को मरणासन्न स्थिति में पहुँचाने के लिए ब्रिटिश सरकार को दोषी मानते थे, जिन्होंने गाँवों की स्वशासित व्यवस्था को समाप्त कर दिया था। गांधी जी का मानना तो यह था कि भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर सरल स्वभाव ग्रामीण जनता का प्रभुत्व होना चाहिए। उनकी ग्राम–स्वराज की मान्यता एक पूर्ण–गणराज्य की मान्यता से कम नहीं थी। इसके लिए वे पंचायती राज के प्रबल पक्षधर थे।

साम्प्रदायिक सद्भावना-

गाँधी जी इस तथ्य से परिचित थे कि वर्तमान का भारत विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जातियों का संगम स्थल है। इसीलिए उन्होंने विचार किया कि जब तक इनमें परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव नहीं रहेगा, देश उन्नति नहीं कर सकता। ब्रिटिश सरकार हिन्दु-मुसलमानों को आपस में लड़ाना चाहती थी, गाँधी जी उनकी इस चाल को समझ चुके थे इसीलिये उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए सबसे अधिक कार्य किया। वे भारतवर्ष को पक्षी तथा हिन्दु-मुसलमान को उसके दो पंख कहते थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बँटवारे को लेकर भारत में जो साम्प्रदायिक संघर्ष हुआ गाँधी जी उसे लेकर साम्प्रदायिक सौहार्द कायम होने तक उपवास पर बैठ गये थे। उनका स्पष्ट मानना था कि जब भारत में सभी धर्म एक दूसरे का आदर नहीं करेंगे तब तक भारत पूर्ण राष्ट्र नहीं बन सकता।

गाँधी जी किसी सम्पन्न घराने के व्यक्ति नहीं थे और न ही आजकल के मापदण्डों के अनुसार दुनियावी दृष्टि से उनका व्यक्तित्त्व बहुत आकर्षक ही था, न वे शास्त्रीय ढंग के पण्डित थे और न ही बहुत अच्छे वक्ता। इन सांसारिक विशेषताओं के न होते हुए भी सही अर्थों में मनुष्य थे। व्यक्ति की सीमाओं को पार करते हुये उन्होंने 'मनुष्यत्व' को प्राप्त कर लिया था। उनका व्यक्तित्व सर्वव्यापी तथा समदृष्टि सम्पन्न था। वे घनश्यामदास बिड़ला, लुईमाउन्टबेटेन अथवा ब्रितानिया के बादशाह के साथ उसी भाव भंगिमा के साथ बातें करते थे जिस भाव के साथ एक गरीब हरिजन से। शायद यह समझौता नहीं था, और अहंकार भी नहीं था, यह चित्त की शुद्धता और निर्मलता थी जिसके वशीभूत होकर लाखों करोड़ों लोग उनके साथ हो लिये।

उनका आभामंडल इस बँटी हुयी दुनिया के हर कोने में जगमगा रहा था। यह कार्य उन्होंने मात्र अपने लेखन के बल पर नहीं किया, बल्कि वे जनसामान्य तक प्रत्यक्षसम्पर्क, सेवा, कर्म, उदाहरण-प्रयोग और कुछ दुनिया द्वारा छोड़ दिये गये सिद्धान्तों- जैसे अहिंसा, सत्य और साध्य पर साधनों की श्रेष्ठता के प्रति वफादारी के माध्यम से पहुँचे थे। हमें यह कहना पड़ेगा कि

गांधी जी में प्रभाव से ज्यादा खिचाव था जिसके कारण देश तथा विदेशों के हिन्दु, जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, यदूदी, पारसी तथा हर जाति-वर्ग के लोग उनसे जुड़े रहना पसन्द करते थे।

'मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है'- कहने वाले महात्मा गाँधी जी की आत्मा इतनी निर्मल और पारदर्शी थी कि उन्हें पढ़कर और अपनाकर आज भी हर व्यक्ति यही समझता है कि उसके खुद को पा लिया है।

आज भी गाँधी जी का दर्शन उनके लेखों या पुस्तकों में उतना नहीं है, क्यों कि इन्हें पढ़ने वाले लोगों की संख्या ज्यादा नहीं है। फिर भी एक गरीब किसान, अनपढ़ मजदूर और आज भी समाज से उपेक्षित वर्ग यदि गाँधी जी को अपने पास पाता है, एक उद्योगति, एक राजनेता, एक अधिकारी और एक साधु भी यदि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए गाँधी जी का नाम लेता है तो उसके पीछे सिर्फ गाँधी जी की नि:स्वार्थ सेवा और निश्छल जीवन ही है और इससे बढ़कर कुछ नहीं।

गाँधीजी का स्वतन्त्रता आन्दोलन

गाँधीजी के नेतृत्व में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आन्दोलनों का दौर प्रारम्भ हुआ। 1920 में 'सत्याग्रह आन्दोलन' के माध्यम से गाँधीजी ने चम्पारन, बिहार और गुजरात के किसानों का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। इसके बाद भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में गाँधीजी ने सतत सक्रिय योगदान दिया। सविनय अवज्ञा, नमक सत्याग्रह, भारत छोड़ो, आमरण अनशन इत्यादि अनेक आन्दोलनों के माध्यम से ब्रिटिश शासन की उन्होंने नींव हिला दी।

इस स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान अनेक बार उन्हें जेल भी जाना पड़ा व कदम-कदम पर अंग्रेजों से अपमानित होना पड़ा किन्तु इन सब घटनाओं में उन्होंने अपने आपको सत्य और अहिंसा की जीती-जागती जीवन्त मूर्ति सिद्ध किया। सत्य और अहिंसा के एक ही शस्त्र के प्रयोग से उन्होंने तीस करोड़ भारतीयों को एकता के सूत्र में बाँधकर, अन्तत: 15 अगस्त 1947 को भारतवर्ष को स्वतन्त्र करा दिया।

स्वतन्त्रता का परिणाम, भारत-पाकिस्तान विभाजन के रूप में बहुत दु:खदायी रहा। इस घटना ने गाँधीजी को हिला कर रख दिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से ठीक पाँच माह पन्द्रह दिन बाद, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह की मूर्ति को उनके ही एक सहधर्मी ने 30 जनवरी 1948 को गोली मारकर उनकी हत्या कर दी, लेकिन मृत्युशैया पर भी उस महामानव के मुख से 'हे राम' ही निकला।

लुई फिशर के शब्दों में - "**एक साधारण नागरिक, जिसके पास न धन था, न सम्पत्ति, न सरकारी उपाधि, न सरकारी पद, न विशेष प्रशिक्षण योग्यता, न वैज्ञानिक सिद्धि और न कलात्मक प्रतिभा, फिर भी ऐसे लोगों ने, जिनके पीछे सरकारें और सेवाएँ थीं, इस 78 वर्षीय लँगोटधारी साधारण आदमी को श्रद्धाञ्जलियाँ भेंट कीं।**"

गाँधी के देहावसान पर भारत को सम्पूर्ण विश्व से समर्पित 3441 श्रद्धाञ्जलियाँ आयीं। क्या यह इस बात का सबूत नहीं कि विश्व के हर हिस्से ने गाँधीजी द्वारा अपनाए गए जीवन-मूल्यों को स्वीकारा था?

गाँधीजी की 75वीं वर्षगाँठ के अवसर पर विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन ने जो उद्‌गार व्यक्त किये थे, वे आज समीचीन प्रतीत होते हैं - "**आनेवाली पीढ़ियाँ शायद ही विश्वास कर सकेंगी कि गाँधी जैसा हाड़-माँस का पुतला, कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।**"

अहिंसा के प्रयोग आवश्यक क्यों?

आज गाँधीजी सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध हैं। आप विदेशों में जाकर कहीं भाषण दे रहे हों और अपने भाषण में गाँधीजी के नाम और सिद्धान्तों का प्रयोग करें तो लोग आज भी और अधिक ध्यान लगाकर आपकी बात सुनने लग जाएँगे। सुप्रसिद्ध लेखक रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि "**संसार का ध्यान गाँधीजी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होंने पशु-बल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपों और मशीनगनों का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया।**"

सोचने की बात यह है कि अहिंसा का आश्रय उन्होंने लिया ही क्यों? क्या इसलिए कि अंग्रेजों के विरुद्ध हिंसा का आश्रय लेकर वे भारत को स्वाधीन नहीं कर सकते थे? अथवा इसलिए कि मानव-समाज को वे यह शिक्षा देना चाहते थे कि मनुष्य जब तक हिंसक साधनों का प्रयोग करने को उद्यत है, तब तक वह पूरा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

पहला विकल्प, अहिंसा को किंकर्त्तव्यविमूढ़ एवं निरुपाय व्यक्ति का साधन बताता है, जिसका स्पष्ट सन्देश है कि हमारे पास तोपों की संख्या इतनी नहीं है, अतः सत्याग्रह ही सही है। जबकि दूसरा विकल्प, अहिंसा को मनुष्यता के विकास का साधन सिद्ध करता है, उसकी अन्तरात्मा को निर्मल बनाने का उपाय सिद्ध करता है।

पहली बात को गाँधीजी स्वयं नहीं मानते थे। वे अहिंसा को गँवाकर भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारत की स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य था किन्तु उससे भी बड़ा ध्येय मानवीय स्वभाव में परिवर्तन लाना था। मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य हिंसक साधनों का सहारा लेता है, वे मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

गाँधीजी का मुख्य उद्देश्य सिर्फ देशवासियों के कष्टों का निवारण करना नहीं था बल्कि मनुष्यों की पशुतुल्य प्रवृत्तियों का अवरोध भी था। घृणा, क्रोध, आवेग आदि के वशीभूत होकर विवेकशून्य होकर पशु अपने प्रतिपक्षियों का सामना उन शस्त्रों से करते हैं, जो प्रकृति की ओर से उन्हें मिले हुए हैं लेकिन मनुष्य, बुद्धि विवेक आदि अनेक अर्थों में पशु से श्रेष्ठ है; अतएव उचित है कि मनुष्य अपने आवेगों पर नियन्त्रण लगाए और अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उन उपायों को काम में ले, जो पशुओं को दुर्लभ और मनुष्यों को सुलभ हैं।

अहिंसा की एक प्रायोगिक विचारधारा

महात्मा गाँधी अहिंसा के सिर्फ सैद्धान्तिक पक्ष तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रायोगिक पक्ष प्रस्तुत किया। गाँधीजी ने सिद्ध किया कि अहिंसा का सिद्धान्त सिर्फ मोक्ष जाने के लिए ही नहीं, बल्कि हमारे जीवन की लगभग सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए भी है।

कुछ ही समय पूर्व सिनेमाघरों में आई फिल्में '**मुन्नाभाई MBBS तथा लगे रहो मुन्नाभाई**' में गाँधीजी की विचारधारा के इस प्रायोगिक पक्ष को अत्यन्त प्रभावी तरीके से उजागर किया गया है।

यद्यपि इन फिल्मों में गाँधी जी के प्रयोग वास्तविक स्वरूप में नहीं थे, किन्तु फिर भी नयी पीढ़ी में अहिंसा पर विश्वास बढ़ाने के लिए गाँधी गिरि के नाम से ही सही, फिल्म निर्माता ने यह आधुनिक प्रयोग गाँधी की अहिंसक चिन्तनधारा को अपने नये अंदाज़ों में प्रस्तुत किये हैं, जो कि बड़े ही प्रभावशाली सिद्ध हुये।

गाँधीजी 'अहिंसा' को अत्यन्त गूढ़ एवं विशाल अर्थ में स्वीकार करते थे। किसी का वध न करना ही अहिंसा नहीं है; मन-वचन-कर्म- इन तीनों से हिंसा न करना ही इसका विशदभाव है। यद्यपि यह अर्थ सारगर्भित है किन्तु गाँधीजी इतने से ही सन्तुष्ट न होते हुए एक कदम और आगे बढ़ाते हैं। उनके अनुसार 'अहिंसा' व्यक्ति को प्राणीमात्र के प्रति स्वयं कष्ट सहनकर, सदाचरण एवं सद्भावना का पाठ पढ़ाने वाली प्रक्रिया भी है। अपनी सक्रिय अवस्था में 'अहिंसा' प्राणीमात्र के प्रति प्रेम, दयालुता और आत्म-बलिदान का प्रतीक है। यहाँ प्रेम का बृहद् अर्थ विश्व के सभी चराचर जगत् से प्रेम अर्थात् समानभाव बताया गया है। इसका सीधा अर्थ है कि घृणा के पात्र व्यक्ति में भी प्रेम के माध्यम से जीवन फूँका जा सकता है।

यद्यपि अहिंसा के सन्दर्भ में भी बुद्धि का प्रयोग आवश्यक है तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अहिंसा एकमात्र बुद्धि का ही विषय है। यदि आपका विश्वास अपनी आत्मा में नहीं है, आपमें भक्तिभाव और भगवान के प्रति आस्था नहीं है तो अहिंसा आपके काम आने वाली नहीं है। नम्रता की चरम सीमा ही गाँधीजी की अहिंसा है।

गाँधीजी की दृष्टि में अहिंसा, कायरता नहीं, क्योंकि इसके लिए पुरुषार्थ आवश्यक है। इसका पालन साहसी ही कर सकता है। अहिंसक वह है, जो कायर नहीं है, जो मरने से डरता नहीं है। अहिंसा का अर्थ अत्याचारी के सामने झुकना नहीं वरन् दृढ़ता से उसका सामना करना है, उसकी मिथ्या इच्छा के विरुद्ध अपनी प्राणशक्ति लगा देना है। अहिंसक सदा सहिष्णु होता है, इसके विपरीत कायर सदैव कष्ट पहुँचाने में विश्वास रखता है। अहिंसक व्यवहार कभी पतनकारी नहीं होता, कायरता सदैव पतनशील होती है। वे कहते हैं – हिंसक व्यक्ति को अहिंसक बनाया जा सकता है परन्तु कायर व्यक्ति को नहीं। उन्हीं के शब्दों में–

''मैंने तो पुकार-पुकार कर कहा है कि अहिंसा, वीर का लक्षण है; कायरता कभी धर्म नहीं हो सकती। आत्मबल के सामने तलवार का बल तृणवत् है, अहिंसा आत्मा का बल है।''

गाँधीजी अहिंसा को केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं मानते थे। उनका मानना है कि अहिंसा हर व्यक्ति के मन में वैसे ही विद्यमान है, जैसे धरती के अन्दर दबा हुआ बीज। बीज को जब जल आदि उचित संसाधन प्राप्त हो जाते हैं तो वह अङ्कुर का रूप ले लेता है और वही लघु अङ्कुर एक दिन विशाल वृक्ष बन जाता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक मन में अहिंसा है, मात्र उसे विकसित करने की आवश्यकता है।

गाँधीजी का विचार था कि अहिंसा, मानव में निर्भीकता भर देती है। निर्भीक व्यक्ति, संसार में सब कुछ करने में समर्थ रहता है क्योंकि उसमें अत्यधिक आत्मबल होता है। आत्मिकबल ही तो वास्तविक शक्ति है। शरीर का बल, बिना आत्मिकबल के व्यर्थ होता है। गाँधीजी की यही कामना थी कि हमारे देशवासियों में आत्मिकबल की जो कमी है, वह दूर हो और वे यह मानते थे कि वह कमी अहिंसा द्वारा ही दूर हो सकती है। अहिंसा में व्यक्ति के अन्दर अपार क्षमता भरने की शक्ति होती है।

गाँधीजी कहते थे कि जिस प्रकार हिंसा संगठित हो सकती है, वैसे ही अहिंसा भी संगठित हो सकती है। जहाँ कहीं भी उत्पीड़न अन्याय,

अत्याचार, भय, दमन और मानव के साथ दुर्व्यवहार है, वहाँ संगठित अहिंसा से प्रतिरोध किया जा सकता है। गाँधीजी ने तो इसके अनेक प्रयोग किए। दक्षिण अफ्रीका, चम्पारन, खेड़ा आदि स्थानों पर संगठित अहिंसा की सहायता से उन्हें विजय भी प्राप्त हुई। संगठित अहिंसा के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है –

''जो बात मैं करना चाहता हूँ और करके मरना चाहता हूँ, वह यह है कि अहिंसा को संगठित करूँ। यदि यह सभी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नहीं है तो झूठ है। मैं कहता हूँ कि जीवन की जितनी विभूतियाँ है, सबमें अहिंसा का उपयोग है। अहिंसा यदि व्यक्तिगत गुण है तो मेरे लिए त्याज्य है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों की है। मैं तो उसका सेवक हूँ। जो चीज करोड़ों की नहीं हो सकती, वह मेरे लिए त्याज्य है और मेरे साथियों के लिए भी त्याज्य ही होनी चाहिए।

हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं। मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा सदैव के लिए है। यह आत्मा का गुण है, इसलिए व्यापक है। अहिंसा सबके लिए है और सब जगह के लिए है, सभी समय के लिए है।''

गाँधीजी अहिंसा को व्यक्ति-विशेष की चीज नहीं बनाना चाहते थे और न ही पूजा की वस्तु बनाना चाहते थे। वे अहिंसा को समाज, राष्ट्र और समूचे विश्व की सार्वकालिक और सार्वभौमिक चीज बनाना चाहते थे।

आज भारत का यह सौभाग्य है कि अहिंसा का सन्देश देने वाले महात्मा गाँधी का जन्मदिन अब 'अहिंसा के अन्तर्राष्ट्रीय दिवस' के रूप में मनाया जाएगा। सन् 2007 में 191 सदस्यीय संयुक्त राष्ट्र महासभा में अहिंसा की वैश्विक प्रासंगिकता पर भारत द्वारा लाये गये और 120 से अधिक देशों द्वारा सहप्रयोजित प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार अब दो अक्टूबर का दिन प्रतिवर्ष 'अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मानाया जाता है। सन् 2011 में भारत में भ्रष्टाचार और अन्याय के विरुद्ध एक विशाल अहिंसक आन्दोलन के प्रवर्तक अन्ना जी ने

गांधी जी के मार्ग को अपनाया और सफलता प्राप्त की।

गाँधी-चिन्तन में अहिंसा के कुछ क्रान्तिकारी सूत्र

महात्मा गाँधी ने अहिंसा के बारे में बहुत कुछ कहा है और उसके प्रयोग किये हैं। यहाँ उनके कुछ प्रभावशाली सूत्र प्रस्तुत हैं -

(1) मेरी अहिंसा प्रियजनों को असुरक्षित छोड़कर खतरों से दूर भागने की बात नहीं करती।

(2) हिंसा और कायरतापूर्ण लड़ाई में मैं कायरता की बजाय हिंसा को पसन्द करूँगा।

(3) मेरा अपना अनुभव है कि हिंसा की शिक्षा पाए हुए लोगों को अहिंसा की वरिष्ठता समझाने में मुझे कभी कोई दिक्कत नहीं आई।

(4) हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार का मामला नहीं बल्कि समूहों, समाजों और राष्ट्रों के व्यवहार का अङ्ग बनाना होगा।

(5) मैं केवल मनुष्यों के साथ ही भ्रातृत्व और समभाव पैदा नहीं करना चाहता बल्कि सभी जीवों, यहाँ तक कि भूमि पर रेंगने वाले कीटों के साथ भी उसी भाव की अनुभूति करना चाहता हूँ।

(6) मैं स्वप्नदर्शी नहीं हूँ। मैं दावा करता हूँ कि मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी हूँ। अहिंसा धर्म, केवल ऋषियों और मुनियों के हितार्थ ही नहीं है; यह जन-सामान्य के लिए भी है।

भारतीय संविधान और अहिंसा

भारतीय संविधान अपने वृहद्रूप के लिए सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। इस संविधान की संरचना में अहिंसा की पृष्ठभूमि है। न्यायिक, प्रशासनिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के लिए अधिकांश स्थलों पर उन शब्दों

का प्रयोग किया गया है, जिनका प्रयोग अहिंसा की व्याख्या के समय किया जाता है। जैसे, स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता आदि। संविधान की उद्देशिका में ही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अहिंसा के सन्दर्भ में हमें भारत की उद्देशिका हमेशा याद रखनी चाहिए। यह उद्देशिका इस प्रकार है –

''हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पन्थ-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता (समानता) प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ सङ्कल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 27 नवम्बर 1949 ई0 (मिती मार्ग शीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अङ्गीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

1. स्वतन्त्रता – उद्देशिका में जिन स्वतन्त्रताओं का उल्लेख है, उन्हें अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 25 से 2८ में स्थान दिया गया है। कुछ ऐसी बाह्य दशाएँ होती हैं, जो राजनीतिक समाज में प्रत्येक मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। यह दशाएँ साधारणतया संविधान द्वारा निर्मित की जाती हैं, इन्हें अधिकार या स्वतन्त्रता कहते हैं। 1989 में फ्रांस की क्रान्ति में जिन तीन सिद्धान्तों का उद्घोष किया गया था, वह हैं – स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता। इस स्वतन्त्रता में भौतिक क्रियाओं की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मानसिक स्वतन्त्रता भी अन्तर्गर्भित है।

2. समता – अहिंसा का उद्देश्य समता की भावना का विकास है। संविधान की दृष्टि से समता के अधिकार में न्याय, कराधान, लोकपद और नियोजन के विषय में समान व्यवहार का अधिकार है। इससे यह भी

अभिप्रेत है कि सभी विधियाँ समानरूप से लागू की जाएँ। अनुच्छेद 14 से 18 में इस सिद्धान्त को प्रभावी किया गया है।

3. बन्धुता – बन्धुता की भावना विकसित न हो तो अहिंसा के प्रयोग व्यर्थ हैं। बार्कर ने बन्धुता को सहकारिता का सिद्धान्त कहा है। संवैधानिक रूप से इसमें राष्ट्र के सामान्य स्रोत और सेवाओं का सहभागिता से उपभोग करने का अधिकार है। जैसे– शिक्षा, पुलिस, स्वास्थ्य और अन्य सेवाएँ। इसका एक अमूर्त संघटक भी है। एक बन्धुता की भावना, जिससे यह भाईचारा उत्पन्न होता है कि हमें एक–दूसरे की सहायता करनी चाहिए और हम सब मिलकर अपने जीवन को ऊपर उठा सकते हैं।

इसका यह अभिप्राय भी है कि एक ही मातृभूमि के पुत्र होने के नाते सभी नागरिक भाई–भाई हैं, जिन्हें सुख और दु:ख में एक–दूसरे का साथ निभाना चाहिए। भाई होने के नाते हम एक साथ जिएँगे और एक साथ मरेंगे। इन भ्रातृगुणों से मिलकर ही राष्ट्र बनता है।

बन्धुता को दो बातों से जोड़ा गया है –

(1) प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा एवं

(2) राष्ट्र की एकता और अखण्डता।

1. मूल अधिकार – मूल अधिकार, नैसर्गिक अधिकार होते हैं; जिसका अपहरण कोई भी राज्य, व्यक्ति से नहीं कर सकता, इसमें भी अहिंसा की भावना है। अनुच्छेद 21 में प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता का अधिकार समाहित है। जस्टिस खन्ना ने इसके बारे में कहा था – ''संविधान का अनुच्छेद 21 यदि न होता तो भी राज्य को, किसी व्यक्ति को उसके प्राण या स्वतन्त्रता से वञ्चित करने की शक्ति, विधि के विशेष अधिकार के बिना नहीं मिलती। यह सभी सभ्य राष्ट्रों में विधिसम्मत शासन की आवश्यक स्थापना और आधारभूत अवधारणा है।''

इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 23-24 में शोषण के विरुद्ध अधिकार, अनुच्छेद 25-2८ में धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, अनुच्छेद 29-30 में संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, अहिंसा की भावना का प्रतीक है।

सम्पूर्ण संविधान का अध्ययन करें तो पाएँगे कि भारतवर्ष का संविधान, अहिंसक भावना की आधारभूमि पर निर्मित है।

प्रथम प्रधानमंत्री के विचार

महात्मा गाँधी जी के अत्यन्त करीबी तथा भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरु अहिंसा के जबरजस्त हिमायती थे, उनका स्पष्ट कहना था कि-

'अहिंसा धर्म महज ऋषियों और महात्माओं के लिए नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है, वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का विधान है। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी रहती है और वह शरीरिक बल के अलावा और किसी कानून को जानती ही नहीं है।

मनुष्य के गौरव के लिए आवश्यक है कि वह अधिक ऊँचे विधान की शक्ति, आत्मा की शक्ति के सामने सिर झुकाये। जिन ऋषियों ने हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूंढ़ निकाला है, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे हथियार चलाना जानते थे। लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उसे बेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिए नहीं होगा, बल्कि अहिंसा के ज़रिए होगा।'

-परमपुरुषार्थ अहिंसा, 4.56

अष्टम अध्याय

अहिंसा प्रशिक्षण की अवधारणा

पूरी दुनिया में अहिंसा के सैद्धान्तिक और हिंसा के व्यवहारिक पक्ष ज्यादा हैं। धर्मग्रन्थों और महापुरुषों के विचारों और पुस्तकों में अहिंसा के विचार भरे पड़े हैं किन्तु जितने बड़े स्तर पर अहिंसा पर विचार हुआ है, उतने अधिक स्तर पर उसके प्रयोग नहीं हो पाये हैं। सैद्धान्तिक रूप से कही गयी बातों का यदि दस प्रतिशत भी प्रयोग में रहा होता तो हिंसा इतनी भयावह नहीं होती। कई स्थलों पर उत्कृष्ट अध्यात्म की चर्चा के बाद भी माँ अपने होने वाले बच्चे की भ्रूण हत्या तक करवा देतीं है। आज भी बेटा-बेटी में भेद करने वाला भारतीय समाज सदियों की अहिंसामयी आध्यात्मिक विरासत को एक मिनट में स्वाहा कर देता है। इसका अर्थ यह है कि सिद्धान्त और व्यवहार में काफी दूरियाँ हैं। हम सोचते या कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। इस तरीके से हम अहिंसा की चर्चा तो कर सकते हैं किन्तु उसके लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते।

आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए अहिंसा का मार्ग उपयोगी है; अतः वैयक्तिकरूप से महान लोगों ने उसका प्रयोग अपने जीवन में किया और सफल हुए। इस कार्य के लिए आरम्भ में साधकदशा में उन्हें उनके गुरु या आचार्य के सान्निध्य में प्रशिक्षण भी मिलता है, जो उन्हें लक्ष्य प्राप्त कराने में सहायक बनता है।

बन्दूक की नोक पर शान्ति की स्थापना-

जब यह माना जाता है कि अहिंसा आत्मकल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, साथ ही यह हमारे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या वैश्विक समुदाय की समस्याओं का भी एकमात्र समाधान है, तब प्रश्न उठता है कि

क्या इस स्तर पर किसी प्रकार का कोई प्रशिक्षण है? अच्छे या बुरे लक्ष्य के लिए हिंसा के प्रशिक्षण की व्यवस्था पूरे विश्व में है। बन्दूक चलाने का प्रशिक्षण आतङ्कवादी भी देते हैं और सरकार भी, फर्क इतना है कि एक शान्तिभङ्ग करने के लिए प्रशिक्षण दे रहा है और एक शान्ति स्थापित करने के लिए। एक आतङ्क फैलाने के लिए प्रशिक्षित हो रहा है और एक आतङ्क से सुरक्षा के लिए प्रशिक्षित हो रहा है। एक बन्दूक की नोंक पर शान्ति खत्म करना चाहता है और एक बन्दूक की नोंक पर शान्ति बनाये रखना चाहता है। बन्दूक की नोंक पर शान्ति स्थापित कराने का फार्मूला तात्कालिक समाधान तो दे देता है किन्तु स्थायी समाधान देने में यह प्रशिक्षण भी असफल है क्योंकि यह प्रक्रिया और समस्या हमेशा बनी रहती है।

हिंसा प्रशिक्षण का बजट

प्रश्न उठता है कि अहिंसा की स्थापना के लिए हिंसा के प्रशिक्षण पर प्रतिवर्ष अरबों-खरबों रुपये खर्च होते हैं और हम जानते हैं कि इससे हम कभी स्थायी समाधान पर नहीं पहुँचेंगे, फिर भी अहिंसा प्रशिक्षण के लिए हम उसका 0.1 प्रतिशत भी खर्च करने को तैयार नहीं, जो स्थायी समाधान देने की शक्ति रखता है। माना कि सुरक्षा के लिए हिंसा प्रशिक्षण का तर्क इतना मजबूत है कि रक्षा मन्त्रालय उसके लिए अरबों का बजट बनाता है लेकिन इसके स्थान पर अहिंसा प्रशिक्षण का तर्क इतना हल्का भी नहीं है कि उसके लिए इस बजट का एक प्रतिशत भी खर्च करने का प्रावधान न हो सके। इस विषय पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए।

हिंसा प्रशिक्षण के नये-नये उपाय और इनके कुतर्क -

विश्व में जो भी राष्ट्र, हिंसक शस्त्रों का निर्माण करते हैं या महँगी कीमतें चुकाकर इन निर्मित शस्त्रों को खरीदते हैं, उनका कहना यही है कि हथियार विश्वशान्ति के लिए आवश्यक हैं, युद्ध निराकरण के लिए जरूरी हैं। जान पर खेलकर भी सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त करने तथा निर्दोषों की जान लेने वाले प्रशिक्षित आतङ्कवादी तथा उनके संगठन, अपनी जाति

की प्रगति और शान्ति के लिए ही लड़ते हैं। जो अपने धर्म की रक्षा के लिए दूसरे धर्मों पर प्रहार कर रहे हैं, वे भी यही मानते हैं कि वे नैतिकता की रक्षा और आपने धर्म के वर्चस्व के लिए लड़ रहे हैं।

अधिकांशतः हिंसा करने के पहले उस हिंसा के पक्ष में एक नैतिक तर्क खड़ा किया जाता है और उस हिंसा को उचित बतलाकर हिंसा को अंजाम दिया जाता है। यह कितना बड़ा अज्ञान और कितनी बड़ी भ्रान्ति है कि हम बर्बरता से मानवता विकसित करना चाहते हैं। हम तो खोटे काम भी उनका अच्छा नाम देकर करने में संकोच नहीं करते।

उद्देश्य होता है मछली, मुर्गा, सूअर का माँस प्राप्त करने के लिए उन्हें मारने का और नाम देते है 'मत्स्य पालन उद्योग, मुर्गी पालन, सूअर पालन उद्योग। इसी तरह बाज़ार में कीड़ों आदि को मारने के लिए 'कीट नाशक दवायें' बिकती हैं। तब यह प्रश्न मन में अवश्य उठता है कि 'दवायें' तो जान बचाने वाली चीजें होती हैं, उनका सही नाम होना चाहिए 'कीट नाशक ज़हर', किन्तु बाज़ार का मनोविज्ञान यह है कि 'दवाई' के नाम पर ज़हर भी बिक जाता है। 'ज़हर' के नाम पर 'ज़हर' बिकना मुश्किल होता है। यह वह तर्क है जहाँ 'हिंसा', 'अहिंसा' का नकाब पहनकर आती है। आश्चर्य तब और होता है जब रोजगार के अवसर बढ़ाने के नाम पर सरकारी स्तर पर इन क्षेत्रों को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक अनुदान प्रदान किया जाता है।

दो राष्ट्र इसलिए युद्ध रोके हुए हैं कि दोनों के पास ऐसे जैविक और परमाणु हथियार हैं कि उनके प्रयोग से पलक झपकते ही सम्पूर्ण राष्ट्र तबाह हो सकता है। शान्ति इसलिए है कि दोनों को एक-दूसरे से समान भय है। भय से उत्पन्न शान्ति, अत्यन्त तनावपूर्ण होती है, उसे शान्ति और अहिंसा का नाम देना उचित नहीं होगा। अतः इस विश्वास और भावना को विकसित करना बहुत जरूरी है कि हिंसा का स्थायी समाधान हिंसा प्रशिक्षण या हिंसक सामग्री से कभी सम्भव नहीं है। क्योंकि हिंसा से कभी हिंसा दूर नहीं होती।

इसके लिए अहिंसक विधियों और भावनाओं का विकास आवश्यक है।

हिंसा की जड़

हिंसा के निमित्त बाहर परिवेश में भी हैं और अन्दर हमारी वृत्तियों में भी। पूर्व संचित संस्कार कर्म हमें हिंसा के लिए उकसाते हैं। कुछ कारण मानव में हैं, कुछ समाज में हैं। हिंसा का मूल कारण या उपादान मनुष्य में स्वयं है तथा उसको उद्दीप्त करने वाले निमित्त परिवेश या समाज में भी निहित हैं।

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारण भी हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। विषमता, बेरोजगारी, शोषण, दरिद्रता, अतिभाव, विलासिता आदि ऐसे आर्थिक कारण या निमित्त हैं, जिनसे व्यक्ति में निहित उपादान को उत्तेजना मिलती है, जो हिंसा भड़काने में निमित्त बनते हैं।

हिंसा को भड़काने में सामाजिक विकृतियाँ, जाति-वर्णभेद, अस्पृश्यता, विषम परिस्थितियाँ, कुरूढ़ियाँ, दासता आदि का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। राजनीति में सैद्धान्तिक आतङ्कवाद तथा व्यावसायिक आतङ्कवाद हिंसा की आग में घी डालने का काम करते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता भी हिंसा भड़काती है। ये बाह्य कारण व्यक्ति के आन्तरिक कारणों को उकसाते हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसा के अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य हैं - व्यक्ति की अनेक विकृत वृत्तियाँ। निषेधात्मकभाव, क्रूरता, भय, ईर्ष्या, क्रोध, अहङ्कार, लोभ आदि विकृत वृत्तियाँ हिंसा को जन्म देती हैं।

व्यक्ति में हिंसा का दूसरा महत्वपूर्ण कारण है - अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही समझने और अपने से भिन्न मतवाले को गलत समझने का दृष्टिकोण, अन्ततः वह हिंसा को प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है।

व्यक्ति की जीवनशैली का भी हिंसा से बहुत गहरा सम्बन्ध है। सुविधावादी, असंयमित, भोगप्रधान जीवनशैली हिंसा और स्वार्थान्धता को उत्तेजित करती है।

हिंसा का निवारण

हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज, मनुष्य के भीतर ही हैं। ऐसी स्थिति में वातावरण पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। क्योंकि वही सबसे पहले हमारे सामने आता है। भगवान महावीर ने कहा – निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्, दोनों को तोड़कर मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर अध्यात्मवादियों का मत है कि जब तक अन्तर्जगत् में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। ये दोनों ही एकाङ्गी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान – दोनों जुड़े हुए हैं। जो घटित होता है, इन दोनों की उपस्थिति में ही घटित होता है। समग्र परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है। अन्तरङ्ग विशुद्धि के साथ-साथ सामाजिक, पारिवारिक या राष्ट्रीय विशुद्धि भी आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

अहिंसा प्रशिक्षण

वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर इस प्रकार के प्रयोग होते हैं किन्तु जब तक राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्तरूप से इस तरह की कोई गतिविधि नहीं होगी, तब तक हम लक्ष्य से दूर रहेंगे। गाँधीजी, अहिंसा प्रशिक्षण के माध्यम से एक शान्ति सेना की कल्पना करते थे। इसके लिए उन्होंने पृष्ठभूमि भी तैयार कर ली थी किन्तु जब तक वे इस योजना को वृहद्रूप दे पाते, उनका निधन हो गया। 'गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति' के निदेशक एन. राधाकृष्णन ने इस सम्बन्ध में प्रयास किए हैं। उन्होंने 'गाँधी की अहिंसा : प्रशिक्षक निदर्शिका' नामक पुस्तक भी इस उद्देश्य से लिखी है।

अहिंसा प्रशिक्षण की एक सुव्यवस्थित कल्पना अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी तथा उन्हीं के शिष्य आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी की है। इन्होंने अत्यन्त श्रमपूर्वक अहिंसा की मूल भावना और मनुष्यता की मूल

भावना को पकड़ा है तथा गहन शोध के उपरान्त अहिंसा प्रशिक्षण की एक प्रविधि तैयार की है। इस प्रशिक्षण के कई प्रयोग भी किए जा चुके हैं तथा उसके सकारात्मक परिणाम भी सामने आए हैं लेकिन बिना किसी सरकारी अनुदान के यह क्रान्ति मात्र सामाजिक सहयोग से चल रही है।

अहिंसा प्रशिक्षण का स्वरूप

अहिंसा प्रशिक्षण की अवधारणा एक प्रायोगिक अवधारणा है। आधुनिक युग में आचार्य श्री तुलसी तथा आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अपने अनेक ग्रन्थों, लेखों तथा हजारों प्रवचनों के माध्यम से अहिंसा प्रशिक्षण की अवधारणा को रखा है। जीवन विज्ञान तथा प्रेक्षाध्यान के माध्यम से कई प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाये हैं। उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा प्रशिक्षण की अवधारणा को एक विस्तृत तथा व्यवस्थित प्रविधि देने का प्रयास पुस्तक 'अहिंसा प्रशिक्षण' में किया है। उसी के आधार पर यह अवधारणा यहाँ प्रस्तुत है।[1]

प्रशिक्षण का आधार

अहिंसा प्रशिक्षण का आधार है – हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बनाकर, अहिंसा के बीजों को अंकुरित करना। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रक्रिया के दो चरण हैं –

1. सैद्धान्तिक बोध, 2. प्रायोगिक अभ्यास।

अहिंसा के सैद्धान्तिक बोध के अन्तर्गत हिंसा के कारण, परिणाम एवं उपाय का प्रशिक्षण समाविष्ट है, जिससे व्यक्ति की अवधारणाओं का परिष्कार हो और उसके साथ-साथ प्रायोगिक अभ्यास भी चले।

---

1. अहिंसा प्रशिक्षण, संपादक – मुनि धर्मेश, प्रका. जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, 1994

अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम

जहाँ कुछ विद्वान् मानस-परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकलरूप में रेखाङ्कित करते हैं, वहीं कुछ महापुरुषों की अवधारणा एक संयुक्त प्रारूप के प्रस्तुतिकरण पर बल देती है। उनके द्वारा विकसित अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी अवधारणा, मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुँचती है, पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवनशैली परिवर्तन एवं तदनुरूप संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन) सम्मिलित हैं।

1. हृदय परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है - हृदय परिवर्तन। हृदय परिवर्तन का अर्थ है भाव परिवर्तन। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है - निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों के कारण ही मनुष्य अहिंसा के प्रति आश्वस्त नहीं हो पाता है। निरन्तर इसी तरह का भाव बने रहने के कारण वह मनोवैज्ञानिक रूप से हिंसक विचारों के दबाव में जीवन व्यतीत करता है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र उसके निषेधात्मक भावों को सकरात्मक बनाता है। हृदय परिवर्तन का दूसरा सूत्र है - शारीरिक स्वास्थ्य में मिताहार का प्रशिक्षण। ऐसे आहार का प्रशिक्षण जो मनुष्य के भीतर तामसिकता का विकास न करे बल्कि सात्विक आहार के माध्यम से उसके मन-मस्तिष्क में सात्विक भावों का संचार हो। निषेधात्मकभावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्न निर्दिष्ट सिद्धान्तसूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है-

	हिंसा के हेतु	**परिणाम**
1.	लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
2.	भय	शस्त्र-निर्माण और शस्त्र-प्रयोग
3.	वैर-विरोध	प्रतिरोध की मनोवृत्ति

4.	क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
5.	अहङ्कार	घृणा, जातिभेद एवं छूआछूत
6.	क्रूरता	शोषण एवं हत्या
7.	असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़े

ये संवेग (निषेधात्मकभाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय परिवर्तन का तात्पर्य है, संवेगों का परिष्कार करना एवं इनके स्थान पर नए संस्कारित बीजों का रोपन करना।

सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र

1.	**लोभ का अनुदय**	शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छाभाव का प्रशिक्षण
2.	**भय का अनुदय**	अभय (आत्मौपम्यभाव) एवं शस्त्र निर्माण और शस्त्र-व्यवसाय न करने की सङ्कल्पशक्ति का प्रशिक्षण
3.	**वैर-विरोध का अनुदय**	मैत्री एवं प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण
4.	**क्रोध का अनुदय**	क्षमा का प्रशिक्षण
5.	**अहङ्कार का अनुदय**	विनम्रता, अहिंसक प्रतिरोध एवं अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण
6.	**क्रूरता का अनुदय**	करुणा का प्रशिक्षण
7.	**असहिष्णुता का अनुदय**	साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रशिक्षण एवं भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण

अहिंसा के विकास के लिए निम्न निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का अभ्यास आवश्यक है -

प्रायोगिक प्रशिक्षण के अभ्यास सूत्र

1.	**लोभ का अनुदय**	अनासक्ति की अनुप्रेक्षा
2.	**भय का अनुदय**	अभय की अनुप्रेक्षा
3.	**वैर-विरोध का अनुदय**	मैत्री की अनुप्रेक्षा
4.	**क्रोध का अनुदय**	शान्ति की अनुप्रेक्षा
5.	**अहङ्कार का अनुदय**	मृदुता की अनुप्रेक्षा
6.	**क्रूरता का अनुदय**	करुणा की अनुप्रेक्षा
7.	**असहिष्णुता का अनुदय**	सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

भावात्मक परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल करने के सुझाव दिए जाते हैं, ये अचेतन या अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों और अर्जित आदतों का क्षय हो जाता है। नए संस्कारों और नई आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। ये प्रयोग सङ्कल्पशक्ति, आत्मविश्वास और आत्मनिरीक्षण की क्षमता को बढ़ाते हैं।

स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है - स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण। शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा में भी आन्तरिक सम्बन्ध है। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में हिंसा का भाव उपजता है, अतः यह अहिंसा के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

प्रायोगिक प्रशिक्षण - प्रायोगिक प्रशिक्षण के अन्तर्गत योगासन और प्राणायाम का अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

2. दृष्टिकोण परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम है – दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकाङ्गी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकाङ्गी आग्रह हिंसा के मुख्य कारणों में हैं। जबकि सापेक्ष चिन्तन सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सापेक्ष चिन्तन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। यह नहीं हो सकता कि समाज के बीस प्रतिशत व्यक्ति अतिभाव में जीवन जिएँ और अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भूखे मरते रहें।

मानवीय सम्बन्धों में जो कटुता दिखाई दे रही है, उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। सङ्कीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर सम्बन्धों को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ सम्बन्ध का विवेक करना, अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के प्रति आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत और शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण सम्बन्ध है तो हिंसा अवश्यम्भावी है।

अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्या धारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता; इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास–अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है –

	सिद्धान्त	**प्रयोग**
1.	**सप्रतिपक्ष**	सामञ्जस्य की अनुप्रेक्षा
2.	**सह–अस्तित्व**	सह–अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3.	**स्वतन्त्रता**	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा

4. **सापेक्षता** सापेक्षता की अनुप्रेक्षा

5. **समन्वय** समन्वय की अनुप्रेक्षा

3. जीवनशैली परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है – जीवनशैली का परिवर्तन। जीवनशैली परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है – सुविधावादी जीवनशैली में परिवर्तन। हम प्रदूषण से चिन्तित हैं, त्रस्त हैं। सुविधावादी जीवनशैली प्रदूषण पैदा कर रही है। उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता किन्तु वह असीम न हो – यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरन्तर जारी रहे, आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन चलता रहे तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवनशैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी; तब तक अहिंसा का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। जीवनशैली परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन और व्यसनमुक्त जीवन का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। निम्निलिखित प्रायोगिक अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण में समाविष्ट हैं –

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा,
2. सत्य-अचौर्य की अनुप्रेक्षा,
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा
4. इच्छा-परिमाण/अपरिग्रह की अनुप्रेक्षा,
5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा
6. व्यसनमुक्ति की अनुप्रेक्षा एवं प्रयोग।

4. व्यवस्था परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का चतुर्थ आयाम है – व्यवस्था परिवर्तन। व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्थागत परिवर्तन भी आवश्यक

है। व्यवस्थाओं के मुख्यत: तीन पहलू हैं - आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था।

आर्थिक व्यवस्था -

अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है; अत: अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णत: अहिंसक नहीं बनाया जा सकता परन्तु उससे अपराध, क्रूरता, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है। यह विचारपूर्ण तथ्य है कि अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों खतरनाक हैं।

विकास की भौतिक अवधारणा का विकल्प मात्र अहिंसक व्यवस्था से ही सम्भव है। अहिंसक व्यवस्था में साधन-शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक की व्यवस्था का ईमानदारी के साथ व्यक्ति तथा सरकार दोनों को पालन करना होगा। इसके साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिंसक तरीकों से आर्थिक व्यवस्था को आवश्यक स्थान देना होगा।

सामाजिक व्यवस्था -

अहिंसक आर्थिक व्यवस्था के अन्दर ही अहिंसक समाज व्यवस्था का स्वरूप छिपा होता है। जिस समाज में आर्थिक शोषण होता है, वह समाज अहिंसक नहीं है। अहिंसक समाज का आधार अशोषण है। अशोषण के लिए श्रम और स्वावलम्बन की चेतना का विकास, व्यवसाय में प्रामाणिकता तथा क्रूरता का वर्जन अनिवार्य है।

समाज में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। अहिंसक समाज में कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का सर्वथा वर्जन हो। उदाहरणार्थ - आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, दहेज सम्बन्धी प्रताड़ना, भ्रूण हत्या, जातीय-घृणा, छुआछूत आदि का व्यवस्थागत निषेध हो। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक वस्तुओं का सेवन तथा प्रत्यक्ष हिंसा को जन्म देने वाली रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्जन भी आवश्यक है।

राजनैतिक व्यवस्था -

अहिंसक राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या हो? स्वच्छ राजनीति वह है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध, मात्र यान्त्रिक नहीं होता; व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्याङ्कन किया जाता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता आत्मानुशासित होती है - ऐसी स्वतन्त्रता व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है, जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है।

अहिंसक राजनीति की दूसरी विशेषता व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करना है। हिंसा की रोकथाम करना और विधि-व्यवस्था कायम रखना, राजनीति का यही मात्र काम नहीं है। जीवन्त राजनीति का लक्ष्य है - व्यक्ति का हित और मानव-कल्याण। विकेन्द्रित राजनैतिक व्यवस्था हो ताकि दलगत राजनीति को अवसर न मिले। वर्तमान राजनीति में राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए भी कोई व्यवस्था नहीं है। परिणामस्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ संख्या इसका आधार रह गया है। राजनीति अपराधियों की शरण स्थली बनती जा रही है। इस पर अंकुश आवश्यक है।

अत: व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जिसमें अनुसन्धान, योजना, कार्य करने के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारम्भ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है।

अहिंसा प्रशिक्षण के और भी आयाम, पहलू या दृष्टिकोण हो सकते हैं, इस प्रविधि का विकास और अधिक किया जा सकता है किन्तु आवश्यकता है इस दिशा में पहल करने की। एकजुट होकर यदि इस प्रशिक्षण में और भी अधिक अनुसन्धान किए जाएं तो कई निष्कर्ष सामने आएँगे, जो शान्ति और अहिंसा की स्थापना का मजबूत आधार बनेंगे।

सप्तम अध्याय

प्रमुख भारतीय चिन्तक और अहिंसा

हमने अहिंसा की प्राचीन अवधारणा को देखा है, पढ़ा है। इस अवधारणा का संबंध हमारे धर्म से है। जो युगों-युगों से अविरल रूप से हमारे सामने आज भी जीवत है। भारत में आधुनिक युग में भी ऐसे अनेक महापुरुष हुये हैं जिन्होंने चिन्तन में तथा जीवन के प्रयोगों में अहिंसा को जिया है। उनमें कतिपय चिन्तक और सन्तों के विचार बिन्दु निष्कर्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं।

आचार्य शान्तिसागर एवं अहिंसा

आचार्य शान्तिसागरजी मुनिराज दिगम्बर जैन परम्परा के एक महान् तपस्वी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आप अहिंसा महाव्रत के जीवन्त प्रतीक थे। आपका जन्म बुधवार, 25 जुलाई 1872 को भोजग्राम, दक्षिण भारत में हुआ था। बाल्यकाल से ही आप धार्मिक प्रवृत्ति के थे। घर में रहकर भी जीवन को धर्म की साधना में लगाते थे। आप भगवान महावीर की परम वीतरागी नग्न दिगम्बर दशा की उत्कृष्ट साधना को अपने जीवन में उतारना चाहते थे। आत्मकल्याण के उद्देश्य से आपने गृहस्थावस्था का त्याग कर दिया और 25 जून 1915 को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। 15 जनवरी 1919 को ऐलक दीक्षा ग्रहण की और 2 मार्च 1920 को आप मुनि दीक्षा ग्रहण कर नग्न दिगम्बर हो गये। बुधवार, 08 अक्टूबर 1924 को आप आचार्य बने।

आपकी चारित्रिक तपस्या की उत्कृष्टता को देखकर चतु:संघ ने आपको चारित्र चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया। जीवन भर आपने गाँव-गाँव पैदल ही भ्रमण किया, सभी जीवों को अहिंसा का उपदेश दिया। उनके जीवन की कई घटनाएँ अहिंसा धर्म की ज्वलन्त उदाहरण हैं। आपने सभी प्रमुख आगमों का स्वाध्याय किया तथा सभी को स्वाध्याय की प्रेरणा

दी। आचार्य कुन्दकुन्ददेव के महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ 'समयसार' के वे अनन्य उपासक थे, उन्होंने धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का भी बहुत अभ्यास किया। समाप्त प्राय दिगम्बर साधना को आपने पुनर्जीवित किया।

आचार्य शान्तिसागर मुनिराज के कुछ वचन-बिन्दु -

(1) **धर्मस्य मूलं दया।** जिनधर्म का मूल क्या है? - सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो। ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा? - सब कार्य छोड़ो, सत्य-अहिंसा का पालन करो। सत्य में सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दु:ख नहीं दिया जाता; अत: संयम होता है, यह व्यवहारिक बात है। इस व्यवहार का पालन करो। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो, तब आपका कल्याण होगा। इसके बिना कल्याण नहीं होगा।[1]

(2) जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा, किन्तु हमारा निश्चय का एकान्त नहीं है; दूसरों के दु:ख दूर करने का विचार करुणावश है।[2]

(3) आगम के मार्ग को छोड़कर जाने से तथा मनमाने रूप से प्रवृत्ति करने से सिद्धि नहीं मिलती। जैसे, मार्ग छोड़कर उल्टे रास्ते जाने वालों को इष्ट ग्राम की प्राप्ति नहीं होती; उसी प्रकार मोक्षनगर को जाने के लिए अहिंसा का मार्ग अङ्गीकार करना आवश्यक है।[3]

(4) हिंसा आदि पापों का त्याग करना धर्म है, इसके बिना विश्व में कभी भी शान्ति नहीं हो सकती। इस धर्म का लोप होने पर सुख तथा आनन्द का लोप हो जाएगा।[4]

आपके अहिंसक जीवन को देखकर तथा प्रवचनों से प्रभावित होकर कटनी (म0प्र0) के पास बिलहरी गाँव के कई हरिजनों ने आजीवन

1. चारित्रचक्रवर्ती, पृष्ठ 550
2. वही, पृष्ठ 345
3. पृष्ठ 338
4. पृष्ठ 166

माँसाहार का त्याग कर दिया था। धौलपुर राज्य के एक गाँव में एक व्यक्ति ने इन पर प्राणघातक हमला किया, पुलिस द्वारा पकड़ लिये जाने पर भी आपने उसे माफ करने को कह दिया था। आचार्य शान्तिसागरजी के अहिंसक प्रयोगों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

इस प्रकार आचार्य शान्तिसागर मुनिराज, संयम साधना की उत्कृष्ट भूमिका में सम्पूर्ण भारतवर्ष में शान्ति, अहिंसा, त्याग और संयम का सन्देश फैलाते रहे। आप दिगम्बर जैनधर्म में मुनिराजों के लिए निर्धारित नियमों का, जैसे चौबीस घण्टे में एक समय अन्न-जल ग्रहण करना, हाथ में शुद्धि के लिए एक कमण्डलु तथा सूक्ष्म जीवों के रक्षार्थ अहिंसा धर्म के पालन के लिए एक पीछी (मोरपंखों द्वारा निर्मित) रखना; कहीं बैठने, उठने, लेटने तथा कोई शास्त्र रखने उठाने से पहले पीछी द्वारा उस स्थान को साफ करना ताकि इन क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा न हो, हिंसा से बचने के लिए चार हाथ आगे की जमीन देखकर कदम बढ़ाना ताकि जमीन पर चलने वाले छोटे जीव पैरों से दबकर न मर जाएँ आदि का, वे कड़ाई से पालन करते थे। जीवन में अहिंसा को जीने का इतना उत्कृष्ट स्वरूप दिगम्बर जैन मुनिराजों के अतिरिक्त कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

आचार्य भिक्षु और अहिंसा

श्वेताम्बर जैन परम्परा में आचार्य भिक्षु का उदय एक नये आलोक की सृष्टि है। उनका जन्म विक्रम संवत् 1783 को हुआ था। विक्रम संवत् 1808 में उन्होंने स्थानकवासी मुनि-दीक्षा स्वीकार की। विक्रम संवत् 1817 में तेरापन्थ का प्रवर्तन किया और विक्रम संवत् 1860 को उनका देवलोकगमन हो गया।

आचार्य भिक्षु, अहिंसा विषयक सूक्ष्म चिन्तन रखते हैं। उनका कहना है कि जीवरक्षा अहिंसा का परिणाम है, उद्देश्य नहीं। जीवरक्षा अहिंसा का परिणाम हो सकता है परन्तु अहिंसा से जीवरक्षा होती ही है - ऐसी बात नहीं। नदी के जल से भूमि उपजाऊ हो सकती है, पर नदी इस उद्देश्य से बहती है - यह नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का उद्देश्य क्या है – आत्मशुद्धि या जीवरक्षा? कई विचारक अहिंसा के आचरण का उद्देश्य जीवरक्षा बतलाते हैं और कई आत्मशुद्धि। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जीवरक्षा तो होती है, पर आत्मशुद्धि नहीं। अहिंसा, जीवरक्षा के लिए हो तो आत्मशुद्धि या संयम की बात गौण हो जाती है और यदि वह आत्मशुद्धि के लिए हो तो जीवरक्षा की बात गौण हो जाती है। आचार्य भिक्षु मानते हैं कि 'अहिंसा में जीवरक्षा की बात गौण है; मुख्य बात है आत्मशुद्धि की।'

एक संयमी सावधानीपूर्वक चल रहा है। उसके पैर से कोई जीव मर गया तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता, उसको पापकर्म का बन्ध नहीं होता। कहा है –

इरजा सुमत चालंतां साध ने, कदा जीवतणी हुवे घात।
ते जीव मूंआ रो पाप साधने, लागे नहीं असंमात रे॥[1]

एक संयमी असावधानीपूर्वक चल रहा है, उसके द्वारा किसी भी जीव का घात नहीं हुआ फिर भी वह हिंसक है; उसके पाप-कर्म का बन्धन होता है। कहा है –

जो ईर्या सुमत विण साधु चाले,
कदा जीव मरे नहीं कोय।
तो पिण साध ने हिंसा छकाय री
लागी, पाप तणो बन्ध होय रे॥[2]

आचार्य भिक्षु के अहिंसा सम्बन्धी सूत्र[3] –

(1) देह के रहते हुए पूर्णतः जीवघात से नहीं बचा जा सकता किन्तु अहिंसा की पूर्णता आ सकती है।

---

1. जिनआज्ञा चौपाई 3/30
2. वही, 3/31
3. सभी अंश भिक्षु विचारदर्शन से संगृहीत

(2) हिंसा या अहिंसा के मूल स्रोत, आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्तियाँ हैं; जीवघात या जीवरक्षा उनकी कसौटी नहीं है।

(3) जैसे-मोक्षमार्गी को व्यवहारदृष्टि की अहिंसा से धर्म नहीं होता; वैसे ही व्यवहारदृष्टि की हिंसा से पाप नहीं होता। जीवघात होने पर भी व्यावहारिक हिंसा, बन्धन का कारण नहीं होती; वैसे ही जीवरक्षा होने पर भी व्यावहारिक अहिंसा, मुक्तिकारक नहीं होती।

(4) जो जीवों की रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानते हैं, उन्हें बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों के घात में पुण्य मानना ही पड़ता है और वे मानते भी हैं; इसीलिए जीवरक्षा अहिंसा का एकमात्र ध्येय नहीं है।

(5) अहिंसा का सिद्धान्त जहाँ मात्र करुणा या जीवरक्षा से जुड़ जाता है, वहाँ अहिंसा लोकप्रिय बनती है, पर पवित्र नहीं रह पाती।

(6) अहिंसा में जीवरक्षा हो सकती है, पर यह उसकी अनिवार्यता नहीं है।

आचार्य भिक्षु के विचार श्री कानजीस्वामी से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। पहले आचार्य भिक्षु भी स्थानकवासी साधु थे और कानजीस्वामी भी। दोनों ने ही अपने मताग्रह का त्याग कर अद्भुत क्रान्ति की।

इस परम्परा के अन्य आचार्य-

आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ धर्मसंघ की स्थापना की। इसी परम्परा में आगे चलकर नवम आचार्य तुलसी हुए, जिन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया और अहिंसा धर्म की उपयोगिता को जनसामान्य में प्रतिष्ठापित करने के लिए विशाल साहित्य रचा। इनके बाद आचार्य महाप्रज्ञ प्रेक्षाध्यान के नये प्रयोगों तथा अहिंसा आदि सिद्धान्तों की आधुनिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या कर पूरे विश्व में शान्ति का सन्देश फैलाया। आचार्य महाप्रज्ञ ने भी अहिंसा एवं विश्वशान्ति के लिए सैकड़ों ग्रन्थ तथा हजारों निबन्ध लिखे हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के देवलोक गमन के पश्चात् आचार्य महाश्रमण अहिंसा की अलख जला रहे हैं।

अहिंसा के आध्यात्मिक व्याख्याता : कानजीस्वामी

बीसवीं सदी के प्रख्यात विचारक कानजीस्वामी का जन्म सौराष्ट्र के उमराला गाँव में विक्रम संवत् 1947 वैशाख सुदी दूज को हुआ था, उन्होंने विक्रम संवत् 1970 को मागशिर सुदी नवमी, रविवार के दिन उमराला में श्री हरीचन्दजी नामक श्वेताम्बर मुनि से दीक्षा ले ली।

दीक्षा के उपरान्त आपने शास्त्रों का कड़ा अभ्यास किया। विक्रम संवत् 1978 में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत 'समयसार' नामक महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ उनके हाथ लगा। इस महान् ग्रन्थ को पढ़कर उन्हें महान् सत्य की उपलब्धि हो गई, जिसकी खोज में वे शुरु से ही भटक रहे थे। अपनी खोई हुई आत्मनिधि को प्राप्त करने के बाद श्री कानजीस्वामी ने जैनागमों की आध्यात्मिक व्याख्याएँ कीं और छुपे रहस्य को उजागर किया। प्रचलित कोरे अध्यात्मशून्य क्रिया-कलापों से आपको दुःख होता था। आपने अपने हजारों प्रवचनों में यह सिद्ध किया कि आत्म-विस्मृति ही सबसे बड़ा अपराध है। आत्मविशुद्धि तथा आत्मानुभूति के लक्ष्य से की गयी व्यवहारिक क्रियाएँ ही सार्थक हैं। यदि निजात्मा को भूलकर कोरे क्रियाकाण्ड में ही धर्म मानते रहेंगे तो मुक्ति सम्भव नहीं है। '**पूर्णता के लक्ष्य से की गयी शुरुआत ही सच्ची शुरुआत है**'- यह आपका प्रसिद्ध वाक्य है।

समयसार ग्रन्थ में प्ररूपित वास्तविक वस्तुस्वभाव और वास्तविक निर्ग्रन्थ परम्परा उन्हें बहुत समय से भीतर में सत्य प्रतीत होती थीं और बाह्य में वेश तथा आचरण सवस्त्र साधु जैसा था - यह विपरीत स्थिति उन्हें खटकती थी इसीलिए उन्होंने सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1992 की चैत्र त्रयोदशी, महावीर जयन्ती के दिन स्थानकवासी सम्प्रदाय के वेश का त्याग कर दिया और दिगम्बर आम्नाय की विशुद्ध परम्परा को एक सामान्य सच्चे गृहस्थ के रूप में स्वीकार किया। '**यह कर्तृत्वबुद्धि ज्ञान के बिना नहीं छूटती इसलिए तुम ज्ञान प्राप्त करो**' - यह उनके उपदेश का प्रधान स्वर था। अपनी ज्ञानाराधना करते हुए विक्रम संवत् 2037, मगसिर कृष्णा सप्तमी,

शुक्रवार तदनुसार दिनांक 28 नवम्बर 1980 के दिन उनका स्वर्ग की ओर महाप्रयाण हो गया।

अहिंसा की आध्यात्मिक व्याख्या–

सूक्ष्मता से देखा जाए तो अहिंसा की आध्यात्मिक परिभाषा ही उसकी वास्तविक परिभाषा है। आत्मा में रागादि नहीं होना अहिंसा तथा रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है – यह मूल आध्यात्मिक परिभाषा है। अहिंसा की अन्य परिभाषाएँ और व्याख्याएँ इसी मूलस्रोत से निकलती हैं।

कानजीस्वामी ने समयसार ग्रन्थ के बन्ध–अधिकार की व्याख्या करते हुए अहिंसा की सूक्ष्म विवेचना की है। राग से ही कर्मों का बन्ध होता है, अतः यही हिंसा है। यह सब अज्ञानदशा में होता है। ज्ञानदशा में जीव भावहिंसा नहीं करता है। हिंसा–अहिंसा के सम्बन्ध में कानजीस्वामी के प्रवचन में आये महत्वपूर्ण सूत्र यहाँ प्रस्तुत हैं[1]–

(1) भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ, विज्ञानघन स्वरूप, सदा वीतराग स्वरूप ही है। वह जैसा है, उसे वैसा ही मानने का नाम अहिंसा है तथा वह जैसा है, उसे वैसा नहीं मानना, अपूर्ण या रागादिरूप या अल्पज्ञ मानना मिथ्यात्व है, भ्रम है, यही स्वरूप की वास्तविक हिंसा है, निश्चय हिंसा है।

(2) बाह्य में परघात का होना, यह व्यवहार हिंसा है तथा सावधानीपूर्वक परजीवों का घात न होने देना, उनके प्राणों की रक्षा करना, वह व्यवहार अहिंसा है।

(3) आत्मज्ञानी को पूर्ण सावधानी के बावजूद अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात हो भी जाए तो बन्ध नहीं होता। ज्ञानी, जीव बुद्धिपूर्वक कभी परजीवों का घात नहीं करते, उनके हृदय में ऐसी करुणाबुद्धि सहज ही होती है।

---

1. सभी अंश प्रवचनरत्नाकर, भाग–8 से उद्धृत

(4) कोई अज्ञानी अपने को ज्ञानी मानकर रुचिपूर्वक हिंसा में प्रवृत्ति करेगा तो उसे निश्चित ही पापबन्ध होगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

(5) वस्तुतः ज्ञानी को तो परजीव को मारने या जिलाने का अभिप्राय ही नहीं होता, उसका अभिप्राय तो ऐसा है कि 'मैं तो चैतन्यघन प्रभु पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हूँ।' वह कभी राग का व पर का आत्मा के साथ एकत्व नहीं करता।

(6) जो मारने या बचाने का अभिप्राय रखता है, राग में रुचि रखता है और ऐसा मानता या कहता है कि 'मुझे परघात से बन्ध नहीं होता क्योंकि मैं पर को मार ही नहीं सकता या मारता ही नहीं हूँ' सो यह **उसकी सर्वथा एकान्त मिथ्या मान्यता है, उसने वस्तुतः अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ही नाश कर दिया है**- ऐसी स्थिति में उसे स्वरूप की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है।

(7) आगम में दया के अनेक प्रकार के भेद कहे गये हैं, उनमें एक स्वदया व परदया के रूप में भी भेद कहा गया है। स्वदया अर्थात् अन्तरङ्ग में रागरहित निर्विकार परिणाम की उत्पत्ति, यह स्वदया धर्म है। संसारी जीवों ने पर की दया, जो कि पुण्यभावरूप है, वह तो अनन्त बार की, पर उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। यदि कोई एक बार भी अपने पर दया करे तो उसका अनन्त जन्ममरण का अभाव हो सकता है तथा अनन्त दुःखों से बच सकता है - ऐसी स्वदया ही वस्तुतः धर्म है, जो कि वीतरागभावरूप होती है।

इस प्रकार कानजीस्वामी अहिंसा की आत्मकेन्द्रित परिभाषा के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि यही सही परिभाषा है तथा बाह्य अहिंसा भी इसी से वास्तव में सफल हो सकती है। अपने हजारों प्रवचनों में उन्होंने इस विषय पर अपने विचार कई स्थलों पर प्रगट किये हैं। उसका विस्तार से विवेचन उनके प्रवचन साहित्य में उपलब्ध है।

---

1. सभी अंश प्रवचनरत्नाकर, भाग-8 से संगृहीत

दलाई लामा और अहिंसा

परम पावन दलाई लामा, बौद्धधर्म के प्रमुख गुरु हैं। उनका जन्म 06 जुलाई, 1935 को एक कृषक परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही आप अहिंसा और अध्यात्म के उपासक रहे। आपकी छह वर्ष की अवस्था से ही तिब्बती बौद्ध भिक्षु के रूप में शिक्षा-दीक्षा हुई। पच्चीस वर्ष की आयु में आपने गेशे लाहरम्पा (पीएच.डी.) की उपाधि प्राप्त की थी। जब चीनी सत्ता ने तिब्बत पर आक्रमण की धमकी दी थी, उसी समय अपने लोगों के आग्रह पर 16 वर्ष की आयु में वे राजनैतिक शासन तथा शक्ति की बागडोर सम्भालने पर बाध्य हुए।

नोरवेजियन नोबेल कमेटी ने 1989 का नोबेल शान्ति पुरस्कार, तिब्बती लोगों के धार्मिक और राजनैतिक अगुआ तेनसिंग ग्यात्सो 14वें दलाई लामा को देने का निर्णय किया। कमेटी ने इस बात पर बल दिया कि तिब्बत के स्वतन्त्रता संघर्ष में दलाई लामा ने लगातार हिंसा के प्रयोग का विरोध किया है। हिंसा के स्थान पर वह अपने लोगों की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक धरोहर को बचाए रखने में शान्तिपूर्ण उपायों के अधिवक्ता रहे हैं।

दलाई लामा ने शान्ति का यह दर्शन सभी सत्त्वों के प्रति सम्मान की भावना, मानवता व प्रकृति के प्रति सार्वभौमिक उत्तरदायित्व की भावना को लेकर विकसित किया है। कमेटी के अनुसार दलाई लामा ने आन्तरिक संघर्षों, मानवीय अधिकार के प्रश्नों और विश्वस्तरीय पर्यावरण की समस्या के लिए रचनात्मक तथा प्रगतिशील सुझाव रखे हैं।

अहिंसा और शान्ति-विषयक उनके प्रमुख विचारसूत्र निम्न प्रकार हैं -

(1) बोधिचित्ताभ्यासी के लिए द्वेष और क्रोध सबसे बड़ी बाधा है। बोधिसत्त्वों में कभी भी घृणाभावना का जन्म नहीं होना चाहिए, बल्कि उन्हें उसका विरोध करना चाहिए। इसकी प्राप्ति के लिए सहिष्णुता या शान्ति का अभ्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(2) हृदय और बुद्धि के समन्वय से ही शान्तिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण मानव परिवार का निर्माण सम्भव है।

(3) करुणा और निष्ठा के अभ्यास से ही हम सही अर्थों में बुद्धानुयायी हो सकते हैं। दूसरों के प्रति दयाभाव रखकर ही हम स्वार्थ को कम करने की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, दूसरों के दु:खों को बाँटकर हम अन्य सभी जीवों की भलाई हेतु और संवेदनशील हो सकते हैं।

(4) यदि पर-दु:ख को दूर करने के लिए अपना सुख तुम उन्हें दे नहीं सकते तो इस वर्तमान जीवन में सुख भी नहीं मिल सकता, बुद्धत्व की आशा व्यर्थ है।

(5) जिस प्रेम का सन्देश हम दे रहे हैं, वह ऐसा प्रेम है जो हम उन व्यक्तियों से भी कर सकें, जिन्होंने हमें हानि पहुँचाई है। इस प्रकार का प्रेम सभी सत्त्वों से किया जाना चाहिए।

(6) विशुद्ध अहिंसा का सम्बन्ध हमारी मानसिक प्रवृत्ति से है। जब हम शान्ति की बात करते हैं, तब हमारा मन्तव्य विशुद्ध अहिंसा होना चाहिए, मात्र युद्ध का न होना नहीं। उदाहरण के लिए पिछले कई दशकों में यूरोप महाद्वीप में अपेक्षाकृत शान्ति बनी थी, पर मुझे नहीं लगता कि वह सच्ची शान्ति थी। शीतयुद्ध के परिणामस्वरूप जो भय छाया था, यह शान्ति उसी से उत्पन्न हुई थी।

(7) अहिंसा की प्रकृति इस प्रकार होना चाहिए, जो निष्क्रिय न होकर दूसरों के कल्याण के लिए सक्रिय हो। अहिंसा का अर्थ है कि यदि तुम दूसरों की सहायता या सेवा कर सकते हो तो तुम्हें करना चाहिए; यदि तुम नहीं कर सकते तो कम से कम दूसरों को हानि नहीं पहुँचाना चाहिए।

दलाई लामा का जीवन संघर्षों से भरा रहा किन्तु फिर भी उन्होंने अहिंसा का रास्ता नहीं छोड़ा। उनका अखण्ड विश्वास है कि जिस प्रकार पूरे विश्व से प्रेम और समर्थन जुटाने में वो सफल हुए हैं, उसके पीछे सबसे बड़ा

कारण उनका अहिंसक संघर्ष ही है।

महर्षि अरविन्द और अहिंसा

भारत के समकालीन दार्शनिकों तथा वैदिक योगियों में जिनका आदर पूरे विश्व में है, उनमें महर्षि अरविन्द का नाम प्रमुख है। श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 में हुआ था। श्री अरविन्द की अधिकांश शिक्षा लन्दन में सम्पन्न हुई। चौदह वर्ष बाद जब वे भारत की धरती पर वापस लौटे, तब कई नौकरियाँ करने के बाद वे देशभक्ति के प्रमुख प्रेरणास्रोत के रूप में काम करने लगे। अंग्रेजों ने श्री अरविन्द को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया किन्तु जेल उनके लिए साधना और योग की भूमि बन गया। साल भर वे जेल में रहे, उनके लिए जेल जीवन वरदान साबित हुआ। उन्होंने स्वयं कहा है कि अंग्रेजी सरकार ने उन्हें बन्द करके उनके ऊपर उपकार किया है।

श्री अरविन्द का अध्यात्म, मनुष्य को शक्तिशाली बनाने का था। हिंसा-अहिंसा को लेकर उनकी अपनी विशेष मान्यताएँ थीं, जिनका उल्लेख उनकी पुस्तकों में मिलता है।

महर्षि अरविन्द ने व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अहिंसा को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। गाँधीजी ने अहिंसा को साध्य बतलाया था जबकि श्री अरविन्द का कथन है कि जिस प्रकार मानव के विकास के लिए जहाँ अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ अहिंसा भी एक साधन है। श्री अरविन्द ने राष्ट्र के उत्थान के लिए कभी-कभी युद्ध और हिंसा को भी उचित बतलाया है। अरविन्द के विचारों का सार यह है कि कोई भी सिद्धान्त कितना ही महान् क्यों न हो, उसको जन-जीवन में समानरूप से लागू नहीं किया जा सकता और न ही उससे सबका भला हो सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति विशेष के लिए अहिंसा कल्याणकारी हो सकती है किन्तु उसे सब कालों में, सब परिस्थितियों में, सब लोगों के लिए एक समान चरितार्थ नहीं किया जा सकता। अहिंसा एक योगी के लिए तो उपादेय हो सकती है; सामाजिक जीवन के लिए हिंसा और अहिंसा दोनों आवश्यक हैं।

श्री अरविन्द जिस आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर थे, उसमें अहिंसा की प्रधानता थी। यही कारण है कि देशभक्ति के जज्बे में स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने हिंसकमार्ग की वकालत नहीं की। वे राष्ट्र को एक निर्जीव भूमिखण्ड नहीं, स्वयं जननी का जीवित विग्रह मानते थे। उन्होंने अपनी पत्नी को अंग्रेजी में जो पत्र लिखे, उसमें उनकी राष्ट्रभक्ति और अहिंसकचेतना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। 17 फरवरी 1907 को लिखे एक पत्र के एक अंश का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है –

''.... मैं जानता हूँ, इस पवित्र जाति के उद्धार करने का शारीरिक बल मेरे अन्दर नहीं है। तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ। तलवार के स्थान पर ज्ञान का एक बल है। ब्रह्म तेज भी एक तेज है। यह तेज, ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। यह भाव नया नहीं है; इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है। यह भाव मेरी नस-नस में भरा है।....''

स्वामी विवेकानन्द और अहिंसा

भारतवर्ष में महान् आध्यात्मिक क्रान्तिकारी विचारक स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त तथा माता का नाम भुवनेश्वरी देवी था। प्रारम्भ में इनका मूल नाम नरेन्द्रनाथ था। इनके गुरु का नाम श्री रामकृष्ण परमहंस था।

नरेन्द्रनाथ जब श्री रामकृष्ण परमहंस से मिले तो सहसा उन्हें एक महापुरुष मानने को तैयार नहीं थे किन्तु प्राणिमात्र के प्रति श्री रामकृष्ण के निष्काम प्रेम और दयाभाव ने उन्हें उनकी ओर आकृष्ट किया। उन्होंने देखा कि परमहंसजी के संसर्ग से कई लोगों का जीवन पूर्णतया बदल चुका है; अत: उन्होंने परमहंस को अपना गुरु मान लिया।

स्वामी विवेकानन्द ने पूरे भारत का भ्रमण किया और विशेषकर नवयुवकों के अन्दर आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। वे युवा चेतना के मसीहा थे। विवेकानन्द ने अपने विचारों से विदेशियों को भी प्रभावित

किया और विश्व शान्ति का सन्देश दिया। उन्होंने शिकागो में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भारतीय अध्यात्म को लेकर एक ओजस्वी वक्तव्य दिया था, वह आज भी प्रसिद्ध है। विदेशों में भारत के आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान की जड़ें मजबूत करने में स्वामी विवेकानन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रमाद या आसक्ति को हिंसा कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे अलग दृष्टि से व्याख्यायित किया। विशेषरूप से जब भारतीय नवयुवकों को आलसी, दुर्बल और कामचोर देखते थे, तब उनका खून खौल उठता था। उनका यह सन्देश बहुत प्रसिद्ध है – 'उठो, जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँच जाओ, तब तक चैन न लो। उठो, जागो... निर्बलता के उस व्यामोह से जाग जाओ। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा, अनन्त सर्वशक्ति सम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान है, उसकी सत्ता को ऊँचे स्वर में घोषित करो; उसे अस्वीकार मत करो। हमारी जाति के ऊपर घोर आलस्य, दुर्बलता और व्यामोह छाया हुआ है।'[1]

अहिंसा-हिंसा को लेकर विवेकानन्द बहुत चिन्तित नहीं दिखायी देते थे। उनका विचार था कि यदि अहङ्कार दूर होता है, अनासक्ति प्रगट होती है और आत्मा शुद्ध बनती है तो अहिंसा के उपदेश की जरूरत नहीं है। यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है किन्तु व्यावहारिकरूप में वे अहिंसा के प्रति बहुत स्पष्ट अवधारणा रखते हैं। उनका कहना है – 'अहिंसा ठीक है, निश्चय ही बड़ी बात है। कहने में बात तो अच्छी है, पर शास्त्र कहते हैं कि यदि तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे गाल पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे और यदि उसका जबाव तुम दस थप्पड़ों से न दो तो तुम पाप करते हो!'[2]

इस प्रकार वे गृहस्थ को विरोधी हिंसा का अधिकारी मानते थे। उन दिनों हमारा देश, अंग्रेजों का गुलाम था। अंग्रेज भारतीयों को मारते थे;

1. विवेकानन्द साहित्य, V/89
2. विवेकानन्द साहित्य, X/51

भारतीय फिर भी उनकी सेवा करते थे, अतः विवेकानन्द का यह चिन्तन प्रसङ्ग तथा परिस्थितियों के अनुकूल माना गया, वे आक्रमण सहने के पक्ष में नहीं थे।

अहिंसा की कसौटी को लेकर वे कहते थे कि 'अहिंसा की कसौटी है – ईर्ष्या का अभाव। कोई व्यक्ति भले ही क्षणिक आवेश में आकर अथवा किसी अन्धविश्वास से प्रेरित हो या पुरोहितों के छक्के-पञ्जे में पड़कर कोई भला काम कर डाले अथवा बड़ा दान दे डाले, पर मानवजाति का सच्चा प्रेमी तो वह है, जो किसी के प्रति ईर्ष्याभाव नहीं रखता। बहुधा देखा जाता है कि संसार में जो बड़े मनुष्य कहे जाते हैं, वे अक्सर एक-दूसरे के प्रति थोड़े से नाम, कीर्ति या चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्याभाव मन में रहता है, तब तक अहिंसाभाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है।'[1]

वे अहिंसा के लिए आत्मज्ञान को आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि 'आत्मा के ज्ञान बिना जो कुछ भौतिकज्ञान अर्जित किया जाता है, वह सब आग में घी डालने के समान है। उससे दूसरों के लिए प्राण उत्सर्ग कर देने की बात तो दूर ही रही, इससे स्वार्थी लोगों को दूसरों की चीजें हर लेने के लिए, दूसरों के रक्त पर फलने-फूलने के लिए एक और यन्त्र, एक और सुविधा मिल जाती है।'[2]

विवेकानन्द की अहिंसा और महर्षि अरविन्द की अहिंसा काफी कुछ साम्य रखती है। यह अहिंसा स्थूल तथा व्यावहारिक अहिंसा है। राजनीति, समाज तथा जीवन-व्यवहार की दृष्टि से परिस्थितिवशात् ऐसी अहिंसा की अवधारणाएँ बहुत अधिक रोचक तथा तर्कपूर्ण प्रतीत होती हैं। इस अहिंसा को हम भौतिक अध्यात्मवाद कह सकते हैं। आत्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा और धर्मरक्षा के लिए हिंसा को उचित कहने वालों की परम्परा भी नयी नहीं हैं। प्राचीन काल से इस प्रकार की अवधारणाएँ चली आ रही हैं।

1. विवेकानन्द साहित्य, IV/41
2. विवेकानन्द साहित्य, II/16

आचार्य रजनीश और अहिंसा

आचार्य रजनीश का जन्म 11 दिसम्बर 1931 को मध्यप्रदेश के कुचवाड़ा गाँव (जिला-जबलपुर) में एक जैन परिवार में हुआ था। बचपन में उनका नाम चन्द्रमोहन था। जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने असाधारण निर्भीकता का परिचय दिया था। सौ फीट ऊँचे पुल से कूदकर बरसात में उफनती नदी को तैर कर पार करना उनके लिए साधारण खेल था। 1957 में सागर विश्वविद्यालय से उन्होंने दर्शनशास्त्र से एम.ए. किया और फिर जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। 1966 में प्राध्यापक पद से त्यागपत्र देकर पूरा समय अध्ययन, मननचिन्तन और व्याख्यान में लगाने लगे। 1974 में आपने पूना में रजनीश आश्रम की स्थापना की। ये आचार्य के बाद क्रमशः एवं भगवान् ओशो के नाम से सुविख्यात हुए। आपके अलौकिक ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-अध्यात्म विषयक मौलिक चिन्तन एवं ध्यान के प्रयोग पूरे विश्व में विख्यात हो गए। जीवन का ऐसा कोई भी आयाम नहीं है, जो उनके प्रवचनों से अस्पर्शित रहा हो। हर विषय की गहराई में जाना तथा तर्कों, तथ्यों एवं दृष्टान्तों के माध्यम से उसमें से नया चिन्तन निकालकर दुनिया को देना ही आचार्य रजनीश का ध्येय था। भारतीय चिन्तन और ज्ञान को पूरे विश्व में फैलाकर आचार्य रजनीश 19, जनवरी 1990 को शरीर छोड़कर महाप्रयाण कर गए।

आचार्य रजनीश का अहिंसा विषयक चिन्तन बहु-आयामी है। अनेक प्रवचनों में अनेक प्रसङ्गों में उन्होंने अहिंसा पर अपनी स्पष्ट राय रखी है। उनके पाँच महाव्रतों पर प्रवचनों का सङ्कलन 'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया' नाम से प्रकाशित हैं। अहिंसा महाव्रत पर इस पुस्तक में उनके विचार प्रमुखरूप से मुखरित होकर सामने आये हैं।

अहिंसा है स्वभाव और हिंसा विभाव

प्रायः मनोविज्ञान तथा अन्य अनुसन्धानों में यह कहा जाता है कि हिंसा भी मनुष्य का स्वभाव है। आचार्य रजनीश कहते हैं -

'हिंसा प्रकृति-प्रदत्त तथ्य है लेकिन मनुष्य का स्वभाव नहीं; हिंसा तो पशु का स्वभाव है और मनुष्य उस स्वभाव से गुजरा है, इसलिए पशु-जीवन के सारे अनुभव अपने साथ ले आया है। हिंसा ऐसे ही है, जैसे कोई आदमी राह से गुजरे और धूल के कण उसके शरीर पर छा जाएँ और जब वह महल के भीतर प्रवेश करे, तब भी उन धूल-कणों को उतारने से इन्कार कर दे और कहे कि वे मेरे साथ ही आ रहे हैं; वे मैं ही हूँ।

वे धूल-कण हैं, जो पशुत्व की यात्रा के समय मनुष्य की आत्मा पर चिपक गए हैं, जुड़ गए हैं; वे स्वभाव नहीं है। पशु के लिए स्वभाव हो सकते हैं क्योंकि पशु के पास कोई चुनाव नहीं है। लेकिन मनुष्य के लिए स्वभाव नहीं है क्योंकि मनुष्य के पास चुनाव है।

मनुष्य शुरु होता है निर्णय से, सङ्कल्प से। मनुष्य चौराहे पर खड़ा है, कोई पशु चौराहे पर नहीं खड़ा है। मनुष्य चाहे तो हिंसक हो सकता है, चाहे तो अहिंसक हो सकता है - यह स्वतन्त्रता है उसकी। पशु की यह स्वतन्त्रता नहीं है, पशु की यह मजबूरी है कि वह जो हो सकता है, वही है। आदमी जो है, वही सब कुछ नहीं है, बहुत कुछ और हो सकता है।

आदमी जो है, उसमें उसका अतीत, पशु की यात्रा उसमें जुड़ी है, वह हिंसा है। आदमी जो हो सकता है, वह उसकी अहिंसा है। आदमी का स्वभाव वह है जो, जब वह अपनी पूर्णता में प्रगट होगा, तब होगा। आदमी का तथ्य वह है, जो उसने अपनी यात्रा में अब तक अर्जित किया है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हिंसा, अर्जित है; अहिंसा, स्वभाव है। इसलिए हिंसा छोड़ी जा सकती है। आदमी कितना भी हिंसक हो जाए, छोड़ना सदा सम्भव है क्योंकि वह स्वभाव नहीं है।'

अहिंसा-हिंसा पर आचार्य रजनीश ने जो चिन्तन दिया, यह उसकी झलक मात्र है। यदि इस विषय पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचा जाए तो भी कम पड़ेगा। आचार्य रजनीश के चिन्तन के कुछ और बिन्दु भी यहाँ प्रस्तुत हैं।

आचार्य रजनीश की अहिंसा विषयक युक्तियाँ[1] –

(1) अहिंसक चौबीस घण्टे अहिंसक हो सकता है; हिंसक चौबीस घण्टे हिंसक नहीं हो सकता।

(2) अहिंसक होने की पहली शर्त है, अपनी हिंसा को उसकी ठीक-ठीक जगह पहचान लेना।

(3) प्रेम भी पूरी तरह अहिंसक नहीं हो पाता। प्रेम अपने ढंग से हिंसा करता है, प्रेमपूर्ण ढंग से हिंसा करता है। पति-पत्नी, बाप-बेटे एक दूसरे को प्रेमपूर्ण ढंग से सताते हैं। जब सताना प्रेमपूर्ण हो तो बड़ा सुरक्षित हो जाता है। फिर सताने में बड़ी सुविधा मिल जाती है क्योंकि हिंसा ने अहिंसा का चेहरा ओढ़ लिया।

(4) हिंसा अधोगमन है जीवन-ऊर्जा का; अहिंसा ऊर्ध्वगमन है।

(5) अहिंसा एक अन्तरङ्ग सङ्गीत है और जब भीतर प्राण, सङ्गीत से भर जाते हैं तो जीवन स्वास्थ्य से भर जाता है।

(6) हिंसा, आत्महिंसा का विकास है।

(7) मनुष्य का फूल खिल ही नहीं सकता हिंसा के बीच; प्रेम के बीच ही उसका पूरा फूल खिल सकता है।

(8) जीवन में चारों ओर हिंसा है। यह हिंसा रोग है मनुष्य के लिए। यह हिंसा अब अनिवार्य नहीं है, पशु के लिए रही होगी।

(9) मानसिक संरचना की दृष्टि से हिंसा, मन का खण्ड-खण्ड में टूट जाना है; डिस्इन्टिग्रेशॅन है, विघटन है। अहिंसा, मन का अखण्ड हो जाना है। इन्टिग्रेशॅन है; एकीभवन है।

---

1. 'ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया' - से सभी अंश संगृहीत।

(10) अहिंसा न तो किसी और को सताती है, न स्वयं को सताती है, अहिंसा सताती ही नहीं। हिंसा ही सताती है। हिंसा के गृहस्थ रूप हैं, सन्यस्त रूप हैं; हिंसा के अच्छे रूप हैं, बुरे रूप हैं और अगर दोनों से सजग हो जाएँ तो शायद अहिंसा की खोज हो सकती है।

सीमान्त गाँधी और अहिंसा

गाँधीजी के समय ही लगभग 1930 में भारत के उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त (अब पाकिस्तान) में पठान जाति के नेता खान अब्दुल गफ्फार खान बहुत प्रसिद्ध हुए; इन्होंने खासकर भारतीय उपमहाद्वीप की जनता के विभिन्न वर्गों में अहिंसा का सन्देश फैलाया। गाँधीजी की ओर आकर्षित होना, इनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। श्री खान ने अपना सारा जीवन अपने अनुयायियों के हृदयों में गाँधीजी की अहिंसा की मशाल जलाने में लगा दिया। आपने 'लालकुर्ती आन्दोलन' चालू किया, जिसे 'खुदाई खिदमतगार' के नाम से जाना जाता है। इस आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने गाँधीजी की अहिंसा को व्यवहार में और अधिक अर्थवान् बनाया। ये हजारों पठानों को संगठित करने में सक्षम हुए। उग्र पठानों को अहिंसा के पुजारियों में बदल देना, इनकी नेतृत्व क्षमता का ज्वलन्त उदाहरण है। महात्मा गांधी इन्हें 'बादशाह खान' के नाम से पुकारते थे। आपको सीमान्त गांधी के नाम से भी जाना जाता है।

गफ्फार खान लालकुर्ती के केन्द्र स्थापित करने के लिए गाँव-गाँव घूमे। छह माह के भीतर ही सारा प्रान्त लालकुर्तियों से भर गया। खुदाई खिदमतगारों की संख्या 500 से 80,000 तक पहुँच गई और उसने बाद में 1,00,000 की अहिंसक सेना का रूप ले लिया। इस सेना की नियमित परेड होती थी, उनके पास कोई हथियार नहीं होते थे, कोई अस्त्र-शस्त्र, छड़ी या लाठी तक भी नहीं होती थी। उन्होंने सैनिक तौर-तरीके के लम्बे-लम्बे मार्च आयोजित किए।

अपने संगठन का सदस्य बनाते समय आप ग्यारह नियमों वाले प्रतिज्ञापत्र पर उस सदस्य से हस्ताक्षर करवाते थे, उसमें **छठा** नियम था – 'मैं सदा अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुरूप जीवनयापन करूँगा।' और **आठवाँ** नियम था – 'मैं अपने कर्मों में सच्चाई और पवित्रता का पालन करूँगा।'

आचार्य विनोबा और अहिंसा

आचार्य विनोबा भावे ने 1940 में एकल सत्याग्रही के रूप में आजादी का ध्वज उठाने और धनाढ्यों के हृदयों को करुणा और ईश्वर भक्ति की ओर मोड़ने में अहिंसा का उपयोग किया। इन्होंने अगले चार दशक तक अहिंसा के आधार को बहुत विस्तार दिया। इसके लिए आचार्य विनोबा भावे ने '**भूदान आन्दोलन**' चलाया। आचार्य विनोबा, गाँधीजी के प्रिय शिष्य तथा उत्तराधिकारी के रूप में जाने जाते थे।

विनोबाजी देशभर में लाखों भूमिधरों के हृदयों को आन्दोलित करने में सफल रहे। उनकी प्रेरणा से भूमिधरों ने स्वेच्छा से चार लाख एकड़ से अधिक भूमि भूमिहीनों में बाँटने के लिए दान में दी। यह मात्रा प्रदर्शित करती है कि अहिंसा को सही परिप्रेक्ष में ग्रहण कर, सही ढंग से लागू करने से इसके अत्युत्तम परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। यह आन्दोलन संसारभर में अभूतपूर्व था। अब यह माना जाता है कि इस शान्त और प्रभावशाली आन्दोलन द्वारा भूमि वितरण और स्वातन्त्र्योत्तर भारत सरकार द्वारा किए गए अन्य भूमिसुधारों के बिना, भारत के गणतन्त्र का स्वरूप वह न होता, जो आज है। भूदान आन्दोलन की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि इसे यश और किसी भी भौतिक–लाभ की कामना से परे सन्त विनोबा जैसे पारदर्शी चरित्रवाले, निःस्वार्थ व्यक्ति ने सञ्चालित किया था।

एक विशुद्ध अध्यात्म उनकी अहिंसा का लक्षण था। उनका जीवन धार्मिक शिष्टाचार का आदर्श नमूना था, जिससे प्रमाणित होता था कि किसी सन्यासी का कर्त्तव्य, मात्र एकान्त में जाकर जीवनयापन करना नहीं होता, बल्कि उसे जनता में जाकर काम करना और उसे आत्मान्वेषण का सही मार्ग

बताना होता है। गाँधीजी की तरह उन्होंने राजनीति, अर्थ, विज्ञान और धर्म को अध्यात्म से जोड़ना चाहा। बर्ट्रेण्ड रसेल ने उनके जीवन को 'मानवीय मामलों में चेतना की भूमिका का प्रतीक' बताया था।

विनोबाजी ने अहिंसा के आधार पर जो भी आन्दोलन चलाए, उसमें वे सफल रहे और उन्हें अत्यधिक ख्याति भी प्राप्त हुई।

आचार्य विनोबा जैनधर्म की अहिंसा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय के आचार्यों से निवेदन करके सर्व सम्मतिपूर्वक '**समणसुत्तं**' नामक ग्रन्थ का निर्माण करवाया। इस ग्रन्थ को उन्होंने जैन-गीता के नाम से पुकारा। 'समणसुत्तं' का सङ्कलन महान कृति 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रचनाकार क्षुल्लकश्री जिनेन्द्र वर्णी ने किया था। आचार्य विनोबा अपना अन्त समय अहिंसा की आराधना में ही बिताना चाहते थे; अत: उन्होंने संयम के प्रतीक 'सल्लेखना' व्रत को लेकर अत्यन्त संयम तथा आत्मश्रद्धा के साथ अपने शरीर का त्याग किया।

विनोबा जी ने अहिंसा, दया, करुणा, अध्यात्म और बंधुता और समग्र जीवन के सार का प्रयोग मूलभूत समाज परिवर्तन तथा सम्पत्ति पर आधारित सम्बन्ध, संस्थानिक ढांचे, परम्परा एवं व्यवहार के पूर्व निर्मित आग्रह को बदलने के लिए किया। उन्होंने वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों की विषमता के प्रति सचेत करने, सामुदायिक चेतना पर आधारित नए सम्बन्धों को विकसित करने तथा कार्यों, आय और जीवन स्तर में समानता लाने के लिए वास्तविक क्रांतिकारी शक्ति का प्रयोग एक साधन के रूप में किया। इस कार्य के लिए वे सदैव याद किये जायेंगे।

नवम अध्याय

सामाजिक जीवन में अहिंसा की उपयोगिता

प्राय: अहिंसा को जीवों को साक्षात् न मारने तक सीमित कर दिया जाता है। अनैतिकता, भ्रष्टाचार, चोरी, शोषण, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्क, वासना, आसक्ति और दुराग्रह आदि जीवन में पलते रहें और अहिंसा भी सधती रहे, क्या यह सम्भव है? जीवों को न मारना अहिंसा है किन्तु उसकी इयत्ता यहीं तक नहीं है। जो लोग अहिंसा को सीमित अर्थ में देखते हैं, उन्हें किसी चींटी के मर जाने पर पछतावा हो सकता है, किन्तु दूसरों को ठगने को या उन पर झूठे केस चलाने या उनका शोषण करने में उन्हें कोई पछतावा नहीं होता।

अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अहित करने में उन्हें हिंसा का अनुभव नहीं होता। यह किस प्रकार की अहिंसा है? ऐसा लगता है हमने अहिंसा को स्वार्थी मात्र बना दिया है। जहाँ सिर्फ स्वार्थ का प्रश्न होगा वहाँ मनुष्य को हिंसा करने में संकोच नहीं होता और जहाँ स्वार्थ में बाधा नहीं पहुँचती, वहाँ अहिंसा का अभिनय किया जाता है। यह अहिंसा सिद्धान्त के प्रति अन्याय है। यदि हम अपने सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से प्रायोगिक अहिंसा को अपनायें तो शान्ति के लक्ष्य को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

सामाजिक जीवन में व्यवसाय, उद्योग, नौकरी, खेती, आजीविका, सौन्दर्य-प्रसाधन, भोजन, राजनीति, सुरक्षा, विधि-व्यवस्था, कानून, प्रशासन, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में अहिंसा की उपयोगिता पर वर्तमान युगीन विचार आवश्यक है। यहाँ प्रमुख क्षेत्रों पर वर्तमान युगीन विचार करते हैं -

व्यवसाय में अहिंसा

व्यवसाय और उद्योग, जीवन की आवश्यकता से जुड़े हुए हैं। इनके बिना जीवन नहीं चल सकता। इस शीर्षक के अन्तर्गत हम हर उस क्षेत्र को समेट सकते हैं, जिनका सम्बन्ध आजीविका अर्जित करने से है। व्यवसाय, उद्योग, नौकरी, खेती इत्यादि सभी क्षेत्र पैसा कमाने के प्रमुख साधन हैं। पैसा, जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भौतिक जीवन की सारी व्यवस्थाएँ पैसे से ही सञ्चालित होती हैं; इसीलिए प्रत्येक मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह स्वयं और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए भरपूर उद्यम करे तथा धन अर्जित करे।

नीतिकारों ने कहा भी है कि-

कला बहत्तर पुरुष की तामे दो सरदार।
एक जीव की जीविका, दूजो जीवोद्धार।।

पैसा, उपयोगी होते हुए भी इसके साथ विडम्बना यह जुड़ी हुई है कि इसके साथ मनुष्य की स्वार्थी मनोवृत्ति का विकास भी बहुत तेजी से होता है। कहा जाता है कि 'पैसे ने अमुक व्यक्ति को अन्धा बना दिया है' - इसका क्या अभिप्राय है? मनुष्य, पैसे के लिए व्यवसाय करता है किन्तु इसके पीछे इतना पागल हो जाता है कि उसके लिए सामाजिक, पर्यावरण और राष्ट्रीय हित का भी ध्यान नहीं रखता। व्यवसाय हिंसक हो जाते हैं और उसका प्रभाव मनुष्यों तथा राष्ट्रों के जीवन पर पड़ता है।

वर्तमान में माँस का निर्यात, सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री के निर्माण में पशु-पक्षियों का प्रयोग, औषधि निर्माण में जानवरों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हड्डियों का प्रयोग, खाद्य पदार्थों में मिलावट, चमड़ा निर्माण हेतु बूचड़खानों की वृद्धि आदि ऐसे कार्य हैं, जो हिंसक व्यवसाय के जीते-जागते साक्षात् उदाहरण हैं। इन व्यवसायों से पर्यावरण पर दुष्प्रभाव तो पड़ता ही है, साथ ही पशुधन की भी कमी होती है। इन व्यवसायों से अर्जित धन भी सुख और शान्ति नहीं दे पाता है।

इसलिए आवश्यक है कि हम धन तो कमाएँ लेकिन अपने मानवधर्म की रक्षा के लिए ऐसा व्यापार करें, जिसमें कम से कम हिंसा हो। ऐसे व्यापार से एक सन्तुलन स्थापित होता है, जो राष्ट्र और समाज को शान्ति प्रदान करता है। हम पैसा कमाने के लिए, अपने स्वाद के लिए तथा शरीर के सौन्दर्य के लिए ऐसे कार्य क्यों करें जिसमें बेकसूर निरीह जानवरों, पशु-पक्षियों की जान ली जाती हो?

उपर्युक्त हिंसा तो वह व्यवसायिक हिंसा है, जो हमें साक्षात् दिखलायी देती है किन्तु व्यवसाय में शोषण जैसी कई हिंसाएँ ऐसी भी होती हैं, जो बाहर से देखने पर प्रगट दिखायी नहीं देतीं। वे हिंसाएँ निम्न प्रकार से होती हैं -

(1) मजदूरों या कर्मचारियों से अधिक कार्य करवाना और कम वेतन देना।

(2) अपने अधीनस्थों को डराना, धमकाना और व्यक्तिगत द्वेषवश उन्हें नौकरी से निकाल देना।

(3) मजबूरी का फायदा उठाते हुए मजदूरों को कम पैसा देकर, अधिक रकम के कागजों पर हस्ताक्षर करवाना।

(4) महिला कर्मचारियों की मजबूरी का फायदा उठाकर, उनका यौन-शोषण करना।

(5) अपने परिवार के सदस्यों को अयोग्य होने पर भी कम्पनी में ऊँचे पद पर, ऊँची तनख्वाह देकर रखना तथा वही काम एक योग्य कर्मचारी से कम वेतन पर करवाना।

(6) उचित इनकम टैक्स आदि नहीं देना तथा हिसाब-किताब में हेर-फेर करना इत्यादि।

इस प्रकार की अनेक हिंसाएँ व्यवसाय में होती हैं। आरम्भ में तो लगता है कि ऐसा करने से अधिक पैसा कमाया जा रहा है किन्तु प्रकारान्तर से ऐसी स्थितियाँ विस्फोटक रूप भी धारण कर लेती हैं। अधीनस्थों के

विद्रोह, कानूनी कार्यवाही तथा अनेक ऐसी समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिससे मनुष्य तथा समाज अशान्त बना रहता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ व्यावसायिक मनोवृत्तियों ने शोषण की पराकाष्ठा कर दी और उसके अंजाम अत्यन्त हिंसात्मक हुए। समाज तथा राष्ट्र में शान्ति और अहिंसा की स्थापना के लिए आवश्यक है कि अहिंसक व्यवसाय की अवधारणा का विकास किया जाए। शोषण तथा हिंसा से रहित अर्जित पूंजी ही राष्ट्र की समृद्धि का माध्यम बन सकती है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन का वाक्य है कि अर्थशास्त्र के सारे रास्ते नीतिशास्त्र से होकर ही गुजरते हैं।

राजनीति में अहिंसा

सैद्धान्तिक आधार पर राजनीति अहिंसक ही होती है। इस क्षेत्र में अहिंसा की अपनी अलग व्याख्याएँ हो सकती हैं किन्तु उनके मुख्य स्रोत अहिंसक नीतिशास्त्र से ही आते हैं। यह बात अलग है कि वर्तमान में राजनीति और हिंसा को एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखा जाता है। आज समाज के हिंसक और दबंग व्यक्तित्त्व, लोकतान्त्रिक कमजोरियों का फायदा उठाकर सत्ता के गलियारों में नायक बनकर स्थापित हैं। विडम्बना यह भी है कि उन सभी लोगों ने यह सब पाने के लिए अहिंसक नारों का प्रयोग किया है और अहिंसा का मुखौटा पहना है। कोई भी नेता यह घोषणा करके चुनाव नहीं जीत सकता कि मैं हत्याएँ करवाऊँगा, रिश्वत को बढ़ावा दूँगा, साम्प्रदायिकता को प्रश्रय दूँगा, गरीबों का शोषण करूँगा आदि।

अहिंसा पर आधारित राजनीति वह है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं हो; जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध, मात्र यान्त्रिक नहीं हो और साथ ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्याङ्कन हो।

हिंसा की रोकथाम, सुरक्षा और विधि व्यवस्था कायम रखना ही राजनीति का कार्य नहीं है। अच्छी राजनीति का अर्थ है – व्यक्ति का हित और मानव कल्याण अर्थात् राज्य को विधि–व्यवस्था से पूर्व व्यक्तित्त्व निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करना। राज्य, गरीबी आदि दूर करने के

साथ-साथ नागरिकों को अभय भी करे। आचार्य विनोबा कहते हैं कि **'जिनका विश्वास अहिंसा में है, उनको लोकनीति की स्थापना में अपनी शक्ति लगानी चाहिए, जिससे राजनीति को समाप्त कर लोकनीति स्थापित हो।'**

जनलोकपाल बिल की वकालात करने वाले अन्ना जी ने भी सच्ची लोकनीति के लिए सन् 2011 से विशाल स्तर पर अहिंसक आन्दोलन शुरु किया है।

सर्वप्रथम राजनीति में Spiritualization शब्द का प्रयोग गोपालकृष्ण गोखले जी ने किया था। गाँधीजी ने भी इस विचार को बार-बार रखा। यह कोशिश पहली बार हुई हो - ऐसा नहीं है। इतिहास में कई बार इस तरह के प्रयत्न हुए हैं। बहुत से विचारक यह मानते हैं कि समाज के विकास में ऐसा बिन्दु आ जाए जब दण्ड के आधार पर शासन चलाने की आवश्यकता न रहे।

प्राचीनकाल में तीर्थंकर ऋषभदेव जब राजा थे उस समय 'हा', 'मा', 'धिक्' की अहिंसक दण्डनीति ही पर्याप्त थी। इस ध्येय को साम्यवादी भी मानते हैं। कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि समाज में दण्ड की आवश्यकता सदैव है; इसलिए शासन भी सदैव रहेगा। दण्डशक्ति को एक स्थान देना तो आवश्यक हो सकता है किन्तु अहिंसक राज्य व्यवस्था में मुख्य स्थान सेवा का रहना चाहिए जबकि दण्ड और सत्ता का स्थान दूसरा होना चाहिए।

वर्तमान चुनाव पद्धति में जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसे अनेक हिंसक व्यापार जुड़े हुए हैं। इसे अहिंसक बनाने के लिए अनेक प्रकार से प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है। अहिंसक राजनीति के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जिससे शासक निरङ्कुश न हो और एक व्यक्ति के अहं को मौका न मिले। पंचायती राज की व्यवस्था इसका ज्वलन्त समाधान है।

कानून में अहिंसा

भारत का संविधान, अहिंसा की पृष्ठभूमि पर निर्मित है। इसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। भारत में कानून व्यवस्था बनाये रखने और दोषी को समुचित दण्ड देने का कार्य पुलिस प्रशासन और अदालतें करती हैं। कानून का उद्देश्य है कि सामाजिक शान्ति बनी रहे, व्यवस्थाएँ नियम से सञ्चालित हों तथा भ्रष्टाचार दूर रहे। अशान्ति फैलाने तथा नियम व व्यवस्थाएँ भङ्ग करने पर दोषी को दण्डित भी किया जाता है किन्तु दण्ड व्यवस्था में भी अहिंसा प्रयुक्त होती है। प्रश्न हो सकता है कि दण्ड तो साक्षात् हिंसा है, उसमें अहिंसा का प्रयोग कैसे हो सकता है? किन्तु यदि हम अध्ययन करें तो पायेंगे कि दण्ड के नियम अहिंसा की आधारशिला पर निर्मित हैं। उदाहरण के रूप में –

(1) छोटे जुर्म के लिए बड़ी सजा का प्रावधान न होना अहिंसा है; उसकी सजा भी छोटी होती है।

(2) निरपराधी को सजा न हो।

(3) आरोप सिद्ध होने से पूर्व कोई सजा न हो।

(4) अपराधी को भी अपना बचाव पक्ष रखने का अधिकार है।

(5) आत्मरक्षा, मानसिक असन्तुलन आदि की स्थिति में हत्या जैसे जुर्म की सजाओं में भी अन्तर है इत्यादि।

वर्तमान की विडम्बना – वर्तमान समय में कानून के रखवालों और उनका पालन करने वालों के मध्य जो हिंसक सम्बन्ध देखने में आ रहे हैं, वे दुर्भाग्यपूर्ण हैं। कानून के रक्षक, जनता की सुरक्षा के जिम्मेवार पुलिस इत्यादि प्रशासन भी कभी–कभी भक्षक की भूमिका में नजर आते हैं। इस क्षेत्र में निम्न हिंसाएँ सामने आती हैं, जो कानून की आड़ में की जाती हैं –

(1) पुलिस द्वारा जनता के साथ निर्ममतापूर्ण व्यवहार होना।

(2) फर्जी मुठभेड़ में निर्दोषों को अपराधी घोषित कर मारना।

(3) गरीब तथा कमजोर वर्ग को सताना एवं अमीर और बलवान लोगों को प्रश्रय देना। रिश्वत लेकर गौर–कानूनी कार्य होने देना।

(4) द्वेष या बदले की भावना से निर्दोष लोगों को फँसाना।

(5) अनपेक्षित लाठीचार्ज या फायरिंग करना इत्यादि।

इनके अलावा और भी अधिक हिंसाएँ हैं, जो कानून को नजरअन्दाज करके की जाती हैं। समाज और व्यक्ति जब कानून तोड़ता है, तब इनका कार्य शुरु होता है किन्तु जब कानून के रक्षक ही इन भूमिकाओं में आ जाते हैं, तब शक्ति और अधिकार के दुरुपयोग खुलकर सामने आते हैं और आम जनता असुरक्षा और भय के वातावरण में जीने को मजबूर हो जाती है।

इन कमियों को दूर करके कानून में अहिंसा की स्थापना, एक स्वस्थ समाज व राष्ट्र को जन्म देती है।

कानून में अहिंसा के प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकते हैं –

(1) पुलिस प्रशासन, कानून के प्रति दृढ़ अवश्य हों किन्तु सहृदय भी हों और मानवीय संवेदनाओं को समझें।

(2) निर्दोषों को बिना वजह न सतायें और न फँसायें।

(3) यदि संवाद से समस्याएँ सुलझती हों तो अनावश्यक बल प्रयोग न करें।

(4) कानून के रक्षक, मदिरापान आदि दोषों से दूर रहें।

(5) अपने हर निर्णय में यह ध्यान रखें कि इससे जनता का हित कितना हो सकता है?

अहिंसा के प्रयोग भावनात्मक स्तर पर कई प्रकार के हो सकते हैं। मात्र आवश्यकता है उस पर आस्था की। इनसे न सिर्फ जनता के और

प्रशासन के बीच एक मधुर सम्बन्ध कायम होते हैं बल्कि एक परस्पर सहयोग का वातावरण भी निर्मित होता है। अहिंसा के प्रयोग जब-जब प्रशासन ने किये हैं, तब-तब सार्थक परिणाम भी सामने आये हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब अहिंसा के प्रयोग से सफलताएँ मिली हैं। अहिंसा का प्रयोग करने वाले के अन्दर बल होना चाहिए, उसे वीर होना चाहिए; अहिंसा कायरों का काम नहीं है। किरण बेदी ने तिहाड़ जेल में जो रचनात्मक प्रयोग किये, वे एक उदाहरण बन गये हैं। उनके अहिंसक रचनात्मक प्रयोगों से जो आश्चर्यजनक परिणाम सामने आये, उससे पूरा प्रशासन उत्साहित हुआ और इस प्रकार के प्रयोगों का दौर अन्य स्थानों पर भी प्रारम्भ हुआ।

सन् 2011 में देश में भ्रष्टाचार के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी आन्दोलन करने वाले 'अन्ना' वर्तमान में अहिंसक क्रान्ति के महानायक बने हुये हैं। गांधी जी के बाद भारतवर्ष में यह आन्दोलन सबसे बड़ी अहिंसक क्रान्ति के रूप में उभरकर सामने आया है। जनलोकपाल कानून बनवाने के लिए अन्ना जी ने पूरे देश में आन्दोलन छेड़ दिया तथा कहीं भी तोड़ फोड़, संघर्ष तथा चक्का जाम आदि घटनायें भी नहीं हुयीं। युवा वर्ग ने इक्कीसवीं सदी में पहली बार अहिंसा की शक्ति को देखा है जो हिंसा से कहीं अधिक व्यवस्थित हितकारी, प्रभावशाली तथा परिवर्तनकारी है।

कानून का लक्ष्य भी शान्ति और अहिंसा को कायम रखना ही है। हिंसक साधनों से उसे अपने लक्ष्य पूरा करने में असफलता भी मिलती है; अतः अहिंसा के प्रयोग अवश्य होना चाहिए।

चिकित्सा में अहिंसा

चिकित्सा का उद्देश्य ही मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। एक डाक्टर को लोग धरती का भगवान मानते हैं। वह प्रत्येक बीमारी को दूर करने और मरीज की जान बचाने का प्रयत्न करता है। जनता भी आँख मूँदकर उन पर भरोसा करती है और यदि बचाने की लाख कोशिश करने पर

भी आपरेशन इत्यादि के समय मरीज की मृत्यु हो जाए तो डाक्टर को कोई हत्यारा नहीं मानता क्योंकि उसका अभिप्राय और उद्देश्य हमेशा अहिंसक ही रहता है।

इस बात को आधुनिक युग की विडम्बना ही कहा जाएगा कि कुछ स्वार्थी तथा धनलोलुपी डाक्टर अपने कृत्यों से इस पवित्र पेशे को बदनाम करने से भी पीछे नहीं हटते। चिकित्सा के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रमुख हिंसाएँ सामने आ रही हैं, जिसने चिकित्सीय विश्वास को जड़ से हिला दिया है –

(1) नकली दवाओं का निर्माण तथा खुले बाजार में उनकी बिक्री होना।

(2) भ्रूणहत्या और गर्भपात करना।

(3) डाक्टरों द्वारा अनावश्यक ऑपरेशन तथा गरीबों के अङ्ग निकालकर उन्हें जरूरतमन्द अमीरों को ऊँचे दामों में बेचना।

(4) सिर्फ कमीशन की कमाई के लिए मरीजों की अनावश्यक पैथौलॉजिकल जाँचें करवाकर, उनकी गाढ़ी कमाई तथा स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करना।

(5) रोगों की आशंका बताकर मरीजों को डराना तथा उनका इलाज के नाम पर अनावश्यक खर्च करवाना।

(6) मरीजों को मात्र एक ग्राहक समझना।

(7) पैसे कम होने या कोई पहचान नहीं होने पर, उसके ईलाज से इंकार करना।

(8) रोग के उपचार का ज्ञान न होने पर भी उसे बड़े चिकित्सक के पास न भेजकर, स्वयं अनावश्यक प्रयोग करते रहना और कमाई का साधन बनाना।

(9) कम दामवाली दवाई उपलब्ध होने पर भी जानबूझकर महँगी दवाईयाँ लिखना।

(10) मरीजों को गलत जानकारियाँ देकर उन्हें बिना कारण परेशान करना।

(11) फर्जी डाक्टर बनकर लोगों को लूटना।

इस प्रकार की अनेक हिंसाएँ चिकित्सा के क्षेत्र में होती हैं। लोग इन्हें भुगतने को मजबूर हैं क्योंकि कोई अन्य विकल्प नहीं है। चिकित्सक के मन में उच्चस्तरीय मानवीय संवेदनाएँ होनी ही चाहिए। धन, जीवन का साधन है। चिकित्सक यदि धन को ही साध्य बनाकर, उसके लिए इस पवित्र पेशे के विश्वास को तोड़ने पर उतारू है तो इससे ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति राष्ट्र के लिए कोई और नहीं हो सकती। उपर्युक्त स्थितियों से बचकर चिकित्सक अहिंसाधर्म का पालन कर सकते हैं। सिर्फ एक व्रत लेकर चिकित्सक अहिंसा का प्रयोग कर सकते हैं और वह व्रत है –

'मैं जीवन में कभी कोई भी ऐसा कार्य नहीं करूँगा, जिससे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से मरीज को तन-मन-धन से कोई भी तकलीफ पहुँचे।'

शिक्षा के क्षेत्र में अहिंसा

शिक्षा का क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है। शिक्षा, मनुष्य के मौलिक अधिकार में शामिल है; अतः वर्तमान में शिक्षा के साथ मनुष्य बाल्यकाल से ही जुड़ा रहता है। शिक्षा का क्षेत्र पूर्णरूप से अहिंसक होना ही चाहिए। उदाहरण के रूप में हिंसात्मक शिक्षा पर प्रतिबन्ध है। पाठ्यक्रमों में यदि कोई जानकारी दी जाती है, जिससे गलत सन्देश जाता हो तथा समाज की शान्ति भङ्ग होती हो तो उसे पाठ्यक्रम से हटा दिया जाता है। हमेशा सौहार्द और भाईचारे की शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा के क्षेत्र में निम्न प्रकार की प्रमुख हिंसायें सामने आ रहीं हैं–

(1) रैगिंग द्वारा नवागन्तुक छात्र/छात्राओं का शोषण करना।

(2) अत्यधिक फीस का दबाव कि कर्ज लेना पड़े।

(3) प्रवेश प्रक्रिया में धांधली, ऊँची पहुँच तथा पैसे के बल पर प्रवेश।

(4) प्राइवेट ट्यूशन तथा कोचिंग न करने पर अध्यापकों द्वारा फेल करने की धमकी।

(5) अध्यापकों का छात्र/छात्राओं के प्रति निर्मम व्यवहार।

(6) नकल रोकने पर अध्यापकों की छात्रों द्वारा पिटाई। इत्यादि

इन कुछ बातों ने पवित्र शिक्षा पद्धति को हाशिए पर ला खड़ा किया है। शिक्षा का क्षेत्र जब से व्यवसाय, इण्डस्ट्री का क्षेत्र बन गया है तब से वह आम मनुष्य से काफी दूर हो गया है। बड़े बड़े माफिया और डॉन बन्दूक की नोक पर शिक्षण संस्थान चला रहे हैं। इन पर अंकुश लगाकर हिंसा से बचा जा सकता है।

शिक्षकों से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वे डरा-धमका कर या पिटाई से छात्रों को सुधारने की बजाय, उन्हें प्रभावित करके प्यार और भावनाओं के माध्यम से ज्ञान प्रदान करें। छात्र/छात्राओं से भी अपेक्षा की जाती है कि वे अध्यापकों का सम्मान करें तथा विनम्रतापूर्वक उनकी बातों को स्वीकार करें।

वास्तव में अहिंसा के प्रयोग बिना ज्ञान के आदान-प्रदान की प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है। क्या किसी गुरु की छाती पर बन्दूक रखकर उससे ज्ञान लिया जा सकता है? - नहीं, यह प्रक्रिया सतत अहिंसा से ही सम्भव है।

दशम अध्याय

शाकाहार और पर्यावरण

आज सम्पूर्ण विश्व के मानचित्र पर उभरने वाले समस्यागत मुद्दों में एक प्रमुख विचारणीय मुद्दा है कि पर्यावरण और प्रकृति पर गहराते संकट का समाधान कैसे हो? वातावरण की शुद्धता को पुनः कैसे प्राप्त किया जाय? निरन्तर बढ़ रही बहुविध हिंसा, वन्य तथा पशुओं की बड़ी तादाद में हो रही हत्या और तामसिक विचारधारा एवं वृत्तियों पर अंकुश कैसे लगाया जाए? विश्व स्तर पर इसका अध्ययन चल रहा है। पर्यावरण की रक्षा हेतु संस्थानों में पर्यावरण विषयक विशेष अध्ययन अनुसंधान हो रहे हैं, किन्तु आश्चर्य है कि पर्यावरण की शुद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला विषय, ''आहार की शुद्धता'' की ओर ध्यान ही नहीं जाता। बढ़ती तामसिक प्रवृत्तियाँ ही पर्यावरण प्रदूषण में मूल कारण हैं और उसके भी मूल में है तामसिक आहार अर्थात् मांसाहार।

मनुष्य का जीवन प्रकृति की छाया से पोषित होते हुए जिस नये परिवेश में आया है उसका रखरखाव एवं प्राकृतिक संतुलन ही सभ्यता और संस्कृति का महान् लक्ष्य होना चाहिए और इस हेतु प्रकृति एक मूलतत्व है जो कि व्यक्ति की जीवनशैली और समाज संरचना से सीधा सम्बन्ध रखती है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पृथ्वी तल के सभी जीव जन्तु प्रकृति की सुन्दर कृति हैं, वे रहेंगे तो प्राकृतिक संतुलन बना रहेगा और हमारा अस्तित्व रहेगा यदि इसी तरह इनका संहार होता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विनाश की पूरी काली छाया हमारे सामने छा जाएगी। इस दृष्टि से वर्तमान की स्थिति भी कम चिन्तनीय नहीं है।

आहार और अराजकता

अपराध वृत्ति और अराजकता भी एक जटिल समस्या है जो वातावरण को अशांत करती है। आज मानव मन में फैल रही तामसिक

प्रवृत्ति एवं हिंसा का मूल कारण है–आहार के प्रति शुद्धता एवं अविवेक। यह सभी जानते हैं कि आहार का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं बल्कि मन और मस्तिष्क भी उससे पूर्णतः प्रभावित होते हैं। शुद्ध पर्यावरण के लिए मानव मन शुद्ध रहे यह अति आवश्यक है। व्यक्ति जैसा खाता है वैसा ही उसका मन, चिन्तन, वचन और व्यवहार बनता जाता है।

अतः प्राकृतिक संतुलन तथा सात्विक आचार–विचार और व्यवहार के लिए सात्विक आहार के रूप में शाकाहार ही आवश्यक है न कि मांसाहार। क्योंकि हम देख रहे हैं कि वर्तमान में मांसाहार का अत्यधिक प्रचलन भी दूषित मनोवृत्तियों एवं व्यवहार में अभिवृद्धि का मुख्य कारण है। जब साधन दूषित होंगे तो साध्य दूषित होना भी स्वाभाविक हैं।

पर्यावरण और जीवन रक्षा

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जहरीले पदार्थों के व्यापक प्रयोग से, मांसाहार की बढ़ती प्रवृत्ति से तथा प्रकृति के निर्मम दोहन से जीवों की अनेक प्रजातियों की विलुप्तीकरण की दर तेजी से बढ़ी है। पिछले 2000 वर्षों में जो प्रजातियाँ विलुप्त हुईं इस बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अकेले आधी से अधिक प्रजातियाँ विलुप्त हुई हैं। जैविकविदों की मान्यता है कि पिछले 350 वर्षों में बीसवीं सदी के मध्य तक प्रति दस वर्ष में प्राणियों की एक जाति उपजाति नष्ट हुई है। प्रकृति व प्राकृतिक साधनों के अन्तर्राष्ट्रीय रक्षा संगठन ने अनुमान लगाया है कि अब औसतन हर वर्ष एक न एक जाति या उपजाति लुप्त हो जाती है। इस समय पक्षियों और जानवरों की लगभग 1000 जातियों के लुप्त होने का खतरा है।

पशुधन की स्थिति

एक समय था कि आस्ट्रेलिया में सबसे अधिक पशुधन था, किन्तु अब वहाँ एक हजार व्यक्ति के पीछे यह आँकड़ा 1450 का ही रह गया है। अर्जेन्टीना में एक हजार के पीछे यह आंकड़ा 2089 है जो विश्व में सम्भवतः सबसे अधिक है। भारत में यह आंकड़ा केवल 279 है। कोलम्बिया और

ब्राजील में क्रमश: 919 और 726 है, पाकिस्तान और बांग्लादेश की तुलना में यह गणना सिमटकर 204 और 116 रह गयी है। क्षेत्रफल की दृष्टि से देखें तो भारत की स्थिति पाकिस्तान और बांग्लादेश की तुलना में ही नहीं बल्कि मलेशिया और श्रीलंका की तुलना में भी अत्यंत दयनीय है।

मांसाहार में जिन प्राणियों का उपयोग किया जाता है उनमें बकरा, सूअर और मुर्गी ही नहीं, वे असंख्य पक्षी भी हैं जो इकोसिस्टम के संतुलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पिछले दिनों इनकी संख्या में तेजी से आयी हुई गिरावट को देखते हुए विश्व के जाने-माने वैज्ञानिकों ने विभिन्न देशों की सरकारों को चेतावनी दी है कि अपने यहाँ मांसाहार पर प्रतिबन्ध लगाएं क्योंकि इनसे होने वाला पर्यावरण में असंतुलन किसी एक के लिए नहीं वरन् पूरी मानव जाति के लिए हानिकारक होगा।

सहअस्तित्व और पर्यावरण

मानव में क्रूरता के साथ अपरिमित करुणा की भी संभावनाएं हैं। वह विकृत होकर विश्व का सबसे अधिक बर्बर और नृशंस प्राणी हो सकता है और सुसंस्कृत होकर करुणा की प्रतिमूर्ति भी बन सकता है। सह अस्तित्व की बात समझे बिना मानव के स्वयं का अस्तित्व भी सुरक्षित नहीं है। यदि मानव अपने अस्तित्व के प्रति सही मायने में जागरूक है तो वह औरों का शोषण नहीं करेगा। अपने सुख के लिए औरों का सुख नहीं छीनेगा, जिससे प्रकृति का संतुलन गड़बड़ाए और प्राकृतिक जीवों को कष्ट हो ऐसे स्वाद, शृंगार और मनोरंजन के लिए मानव अन्य प्राणियों का संहार नहीं करेगा। इस चिन्तन का व्यापक विकास होगा कि पृथ्वी पर अन्य भी हैं। सिर्फ मैं और मेरा भविष्य ही मेरा विषय नहीं है। किन्तु यह सब भी तभी संभव है जब तामसिकता का अभाव हो और सात्विकता का संचार हो।

संकीर्ण चिन्तन और घातक नीतियाँ

भारतवर्ष में जहाँ एक तरफ शुद्ध विवेक संगत विज्ञान और धर्म प्राचीन समय से विद्यमान हैं वहीं दूसरी तरफ अनेक सूत्रों की तथा अन्य

धार्मिक मान्यताओं की स्वार्थपरक व्याख्याएँ करके मूक पशुओं की बलि देकर उनकी हत्या करना, धार्मिक कट्टरता का आसरा लेकर उसी के नाम पर असंख्य पशुओं की बलि देना और उनका मांस खाकर स्वयं को पुण्यशाली मानना, बड़े-बड़े होटलों, रेस्टोरेंटों में आधुनिक जीवन पद्धति का मूल अंग मानकर तरह-तरह के मांस व्यंजन को बढ़ावा, टी.वी. पर मांसाहारी व्यंजन बनाने की विधि सिखलाना, क्या हमें सोचने पर विवश नहीं करता है?

पशु-पक्षी प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। ये यदि इसी प्रकार नष्ट होते रहे तो प्राकृतिक संतुलन तो बिगड़ेगा ही और पर्यावरण प्रदूषण भी बढ़ेगा। हमारी आत्मघातक नीतियाँ और अमानवीय कृत्वों के सबसे बड़े नमूने हैं ये पशु कत्ल कारखाने। प्रतिदिन हजारों गायों, भैसों का डिब्बा बंद मांस निर्यात के लिए तथा चमड़े की वस्तुएँ बनाने के लिए कत्ल करना इन कत्लकारखानों की दिनचर्या है।

सरकार की ओर से प्रकाशित पर्यावरण विषयक ग्रन्थों में क्या कभी इस विषय पर चिन्तन किया गया है? यह महत्त्वपूर्ण और गहन विचारणीय विषय है कि हमारे दूध-दही के प्राकृतिक स्रोतों को मांसाहार के नाम पर समाप्त किया गया तो हमारा पर्यावरण कैसे संतुलित रहेगा? यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मांसाहार के बिना जीवन स्वस्थ और सानन्द व्यतीत हो सकता है। मांसाहार मात्र फैशन और जीभ के स्वाद के लिए किया जाता है न कि जीवन-यापन के लिए। चिन्तनीय प्रश्न यह है कि आज जबकि हमारा ऐसा करना पर्यावरण प्रकृति के लिए भी घातक हो रहा है तब इतना आग्रह क्यों?

स्वाभाविक आहार शाकाहार

शाकाहार मनुष्य का मूलभूत स्वाभाविक आहार है। वह उसके विकास का जीवन्त साक्ष्य है। हम उसे अहिंसा, करुणा, स्वास्थ्य, स्वच्छता मूलक मानवीय आहार निरूपित कर सकते हैं। शाकाहार मात्र आहार ही नहीं है, वह एक ऐसी सुविकसित जीवन-शैली है, जिसकी जड़ें भारतीय समाज और संस्कृति में बहुत गहरी और सघन हैं। हिंसा और क्रूरता को जीवन से क्रमशः अलग करते जाने की गौरव-कथा शाकाहार है।

नयी खोजों के अनुसार वानर-पुरखों के जो जीवाश्म (फॉसिल्स) मिले हैं, उनसे सिद्ध हुआ है कि 45 लाख वर्ष पूर्व मानव-वंशज भी फलाहारी था।

हमारे ग्रह पर आज से 3 अरब 50 करोड़ वर्ष पूर्व जीवन की शुरुआत हुई थी। जीवनधारियों का पूर्वज डायनासोर, जो आज से 10 करोड़ वर्ष पूर्व इस ग्रह पर अस्तित्व में था, पूर्ण शाकाहारी (तृण-भोजी) था। इस भीमकाय जीवधारी के जीवाश्म उपलब्ध हैं।

इस प्रकार शाकाहार अहिंसा-करुणामूलक नीति-विज्ञान समस्त जीवन-पद्धति है-एक ऐसी जीवन-पद्धति जो अनुपालक को निर्विघ्न प्रसन्न रखते हुए उसके समकालीन जीवधारियों को भी निष्कण्टक आवास जीवन पाने का अवसर प्रदान करती है। शाकाहार मात्र शरीर को ही स्वस्थ्य नहीं रखता, अपितु आत्मा को भी स्वस्थ्य एवं ऊर्ध्वगामी रखता है।

मांसाहार मानवता के विरुद्ध है

मनुष्य समाज को गिराने वाली अनेकों दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु मांसाहार उनमें से सबसे अधिक घृणित है। इससे मनुष्य में निष्ठुरता, क्रूरता, निर्दयता, स्वार्थ-साधन आदि समाज विरोधी प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि होती है। करुणा, दया, क्षमा, संवेदना, सहानुभूति तथा सौहार्द्र जैसे आध्यात्मिक गुण नष्ट हो जाते हैं और ऐसे व्यक्ति अपने स्वाद, स्वास्थ्य एवं स्वार्थ के लिए बड़े से बड़ा अपराध करने में भी संकोच नहीं करते। जिस समाज में ऐसे अनात्मवादी व्यक्ति विद्यमान हों, उसमें मानवता के गुणों की अभिवृद्धि की आशा कैसे की जा सकती है?

समाज-मनोविज्ञानियों का कहना है कि मांस-भोजन मानवता की स्थापना एवं स्थिरता के लिए बहुत बड़ी बाधा है। यह सब जानते हैं कि एक सुखी समाज के लिए स्वस्थ्य गुणों के नागरिकों का होना कितना आवश्यक है। व्यक्ति का सद्‌गुणी होना उसके आन्तरिक सदाचार पर निर्भर है, अर्थात् सभ्य समाज की रचना तभी हो सकती है जब लोगों के मन स्वच्छ हों।

यद्यपि पाश्चात्य मनोविज्ञानी इस तथ्य को आंशिक रूप से ही जान पाये हैं, परन्तु भारतीय तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनियों ने इस बात को बहुत पहले ही अच्छी तरह जान लिया था कि हमारा मन अन्न या आहार का सूक्ष्म संस्कार है। इसलिए उन्होंने आहार की सात्विकता पर बहुत जोर दिया है। उसके अनुसार मनुष्य के आहार का जो गुण होगा, उसके मन में भी वैसे ही गुणों का, विचारों का जन्म होगा और जैसे लोगों के विचार होंगे, आचरण भी वैसे ही होंगे। इस वैज्ञानिक तथ्य की समग्र जानकारी के बाद ही स्वच्छ सात्विक आहार ग्रहण करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया था और भोजन व्यवस्था को अनेक कड़े नियमों से प्रतिबन्धित कर दिया गया था।

आहार का अनुसन्धान

भोजन की स्वच्छता, सादगी, सफाई और उसे भावनापूर्वक ग्रहण करने की भारतीय प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं थी, वरन् वह विचार-विज्ञान की गहन कसौटी पर कसी हुई थी। यदि मानव के निर्माण में उसकी प्रवृत्तियों के बनने में भोजन का कोई प्रभाव न होता तो मनीषीजन उसकी खोज, गुण-अवगुण की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता पर इतना गहन अन्वेषण न करते और हमारे उन प्राचीन पिप्पलादि ऋषि, कणाद् ऋषि जैसे महामनीषियों को प्राकृतिक शाकाहार से अपनी क्षुधा को शान्त करने की विवशता न रही होती।

आहार का मानवीय मनोवृत्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव पर अनुसंधानरत चिकित्सा-विज्ञानियों ने निष्कर्ष निकाला है कि मांसाहार से मनुष्य की मनोवृत्तियाँ क्रूर, दुस्साहसी, निर्दय और निष्ठुर बन जाती हैं। इन दुर्गुणों की अभिवृद्धि से समाज भी निश्चित रूप से प्रभावित होता है। जो व्यक्ति मांस के टुकड़ों के लिए जीवों पर दया नहीं कर सकता, वह अपने पत्नी बच्चों के प्रति कितना दयालु होगा, कहा नहीं जा सकता। ऐसी भी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब अन्न न मिले और तब मांसभक्षी व्यक्ति सजातियों को ही अपना ग्रास बनाने लगे, तो आश्चर्य किस बात का? एक बार अखबार में एक चित्र प्रकाशित हुआ था जिसमें विदेश के किसी पंच सितारा होटल का

बेटर एक बड़ी तश्तरी में पके हुये एक नवजात मानव शिशु को परोसने ले जा रहा था। यह घटना तो तब की है जब अन्न पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। उस चित्र को देखकर कई दिनों तक मैं चैन से सो तक न सका।

स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से भी मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार नहीं है। मांस भक्षण से सामयिक उत्तेजना और शक्ति का अनुभव हो सकता है, परन्तु स्वास्थ्य को स्थायी रूप से सुदृढ़ और कार्यक्षम बनाने के लिए उसे कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में केवल भारतीय मनीषी या शास्त्र ही पर्याप्त प्रकाश नहीं डालते, वरन् वर्तमान समय में यूरोप और अमेरिका के मूर्धन्य वैज्ञानिकों, शरीर-शास्त्र वेत्ताओं और प्रसिद्ध डाक्टरों ने भी जो खोज, परीक्षण एवं अनुभव किये हैं और जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि मांसाहार स्वास्थ्य की समस्या का स्थायी हल नहीं कर सकता। उससे अनेक प्रकार की शारीरिक-मानसिक बीमारियां ही उपजती हैं।

प्राण ऊर्जा, शरीर और आहार

सृष्टि की सर्वमूल्यवान कृति है मानव शरीर। जीवन का स्पन्दन शरीर के माध्यम से ही मुखरित हो सकता है। आत्मा का आधार भी शरीर ही है। मनुष्य शरीर में श्वास, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, भाव, कर्म, और चेतना के समन्वित रूप से ही जीवन सुमन सुरक्षित हो रहा है। इस संसार से कर्म का आधार है शरीर। पौद्गलिक सुख-दु:ख की अनुभूति भी इसी के माध्यम से होती है। जीवन की प्रवृत्ति और निवृत्ति के पथ पर अग्रसर होने हेतु तप, साधना, मौन व ध्यान का मार्ग भी इसी शरीर द्वारा प्रशस्त होता है।

प्राणशक्ति का पोषण भोजन पर आधारित है। भोजन से ऊर्जा प्राप्त होती है। ऊर्जा हमारे शरीर का पॉवर हाउस है, जो प्राण से परिवर्तित होता है। रोगाणुओं तथा रोग से लड़ने के लिए प्रत्येक प्राणी तथा वनस्पति में वह दिव्य जीवनीशक्ति प्रकृति ने कूट-कूट कर भर रखी है। प्रत्येक सजीव उस दिव्य जीवनी शक्ति को लेकर पैदा होता है। जगत् में जो भी सुख, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, वह उस दिव्य जीवनी शक्ति के कारण है। इस

जन्मदाता स्वाभाविक जीवनी शक्ति को नेचुरल इम्यून सिस्टम कहते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान शरीर को रोगमुक्त एवं स्वस्थ्य रखने वाली शक्ति को प्राकृतिक इलेक्ट्रोमैग्नेटिक इम्यून या बायो इलेक्ट्रो मैग्नेटिक वायटल फोर्स भी कहा है। इसी शक्ति के द्वारा दिल धड़कता है, दिमाग कम्प्यूटर से भी अधिक तेज तथा संवेदनशीलता के साथ कार्य करता है। फेफड़े क्रियाशील बने रहते हैं। खून रग-रग में दौड़ता है। सांसों की थिरकन, नाड़ी का स्पन्दन, स्नायुओं की संचार व्यवस्था, यकृत, आंत, प्लीहा, गुर्दे, अन्तःस्रावी ग्रंथियां आदि अनेक कार्यों का सुसंचालन, नियमन तथा नियंत्रण इसी जीवनीशक्ति पर निर्भर करता है।

जब यह शक्ति समाप्त हो जाती है तो जीवन-ज्योति बुझ जाती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से जीवनी शक्ति की हेतुभूत पर्याप्तियों और प्राणों के साथ मन का भी बहुत महत्त्व है। मन के द्वारा ही भावों का विशुद्धिकरण हो सकता है और मन की शुद्धि के लिए आहार की शुद्धि आवश्यक है। मन स्वस्थ तो शरीर स्वस्थ और मन की निर्मलता का आधार है शाकाहार। अतः हमें दृढ़तापूर्वक विशुद्ध शाकाहार को ही अपनी जीवनशैली का मुख्य अंग बना लेना चाहिए।

शाकाहार और आधुनिकता

तामसिकता विनाश का कारण है। इससे पर्यावरण शुद्धि और राष्ट्र के विकास और कल्याण की भावना विलुप्त हो जाती है। ऐसा लगने लगा है कि हम पहले से भी कहीं अधिक उग्र और दृष्टिहीनता के युग में जी रहे हैं। मांसाहार के समर्थकों में बहुतों का कथन यह भी है कि वर्तमान युग की जटिलताओं में जीने वाला व्यक्ति सात्विक रह ही नहीं सकता। यदि वह कलयुग में उच्च समाज में रहना चाहता है तो फैशन के रूप में तो मांसाहार को अपनाना ही होगा। ऐसे ही कुछ विचार भ्रमित व्यक्तियों के मस्तिष्क में उत्पन्न होकर समाज में संक्रांत भाव पैदा करते हैं। सामाजिक स्तर पर यह धारणाएं पुष्ट होती हैं और हर व्यक्ति का विश्वास दृढ़ हो जाता है कि स्तरीय

जीवन जीने के लिए कुछ अनैतिक धारणाएं उपक्रम के रूप में अपनानी ही होती हैं।

यदि वास्तविकता देखी जाए तो ये युग और परिस्थिति का बहाना दुर्बल मनोवृत्ति का सूचक है। मानव मन की दुर्बलता अच्छी से अच्छी परिस्थिति में भी व्यक्ति को कर्त्तव्यों से स्खलित कर देती है और यदि उसका मन प्रबल हो तो वह किसी भी स्थिति से निपटने का साहस जुटा लेता है। विश्व में विविध प्रकार की वनस्पतियाँ मनुष्य के उपयोग के लिए ही तो हैं फिर भी यदि हम उनके स्थान पर दूसरे प्राणियों को आहार बनाते हैं तो प्रकृति के संतुलन और पर्यावरण के साथ खिलवाड़ ही करते हैं।

अस्तित्व में जीवनधारी और प्रकृति की अस्मिता को स्वीकारना हमारा विवेक धर्म है। वस्तुतः बात दरअसल यह है कि आज हम इतिहास के एक ऐसे संवेदनशील मोड़ पर आ खड़े हुए हैं जहाँ अच्छे-बुरे, खरे-खोटे के बारे में सोचना लगभग ठप्प पड़ा है। यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि स्वस्थ जीवन रहे, नैतिक जीवन रहे, और प्राकृतिक संतुलन रहे तो शाकाहार के समर्थन में हमें स्वस्थ जनमत तैयार करना होगा।

इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि शाकाहार भारतीय संस्कृति का मुख्य अंग रहा है। वेदों से लेकर महावीर बुद्ध के समय को पार करते हुए महात्मा गांधी के जीवन और वाणी में हमें इसकी गूंज सदा मिलती है। हमें भारतीय संस्कृति और विश्व की प्रगतिशील संस्कृति को देखते हुए परिवार के छोटे-बड़ों को समझाना चाहिए कि शाकाहारी होना सभ्यप्रगति और सुरक्षित शुद्ध प्रकृति की ओर कदम बढ़ाना है। ताकि हिंसा के बढ़ते हुए कदम रुकें प्रकृति सुरक्षित रहे और अमन चैन, सुकून, शांति और हमारा अस्तित्व बच सके।

किसी कवि ने बहुत मर्मवेदनापूर्वक कहा है-

भूख मिटाने के लिए काफी हैं चंद रोटियाँ,
फिर मनुज क्यों खाता है पशुओं की बोटियाँ?

परिशिष्ट–1

मध्यकालीन भारतीय सन्त और अहिंसा

भारत के सन्तों ने जो हिन्दी साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, अपनी सरल किन्तु सारगर्मित तथा मर्मस्पर्शी वाणी के द्वारा भारतीय समाज को हिंसात्मक पाखण्डों, व्यर्थ के क्रियाकाण्डों तथा रूढ़ियों से निजात दिलाने का बहुत बड़ा काम किया था। सिर्फ हिन्दी साहित्य के इतिहास में ही नहीं वरन् आज भी भारतीय जनमानस में कबीर, रविदास, दादू, रज्जब, मलूकदास, तुकाराम आदि अनेक संत कवियों के नाम स्वर्ण अक्षरों में अंकित हैं। इनकी विशेषता थी कि ये किसी सम्प्रदाय से बँधे हुये नहीं थे। जीवन के छोटे–छोटे अनुभवों से जुड़कर काव्य का सर्जन करते थे और जनमानस को समझाते थे। उनके इन्हीं अनुभवों का संकलन एक नये मानव दर्शन की पृष्ठभूमि बन गया। हिन्दू हो या मुसलमान, सभी धर्मों में व्याप्त बुराईयों की जमकर आलोचना करते थे। इनके दोहे, छन्द आज भी भारत के कण कण में तथा कण्ठों–कण्ठों में व्याप्त हैं और समाज तथा मनुष्य को जीवन की सच्ची राह बताते रहते हैं।

इन संतों ने अहिंसा धर्म पर निश्छलता पूर्वक विचार किया और पाया कि समाज में धर्म के नाम पर मांसाहार को प्रश्रय मिला हुआ है जो कि सबसे बड़ा अधार्मिक कृत्य है और नरक का द्वार है। कबीर ने तो मुसलमानों तथा कर्मकाण्डियों दोनों को फटकार लगायी–

दिन को रोजा रहत है, रात हनत है गाय।
येह खून वह बन्दगी, कहु क्यों खुसी खुदाय।।

अजामेध, गोमेध जग्य, अस्वमेध, नरमेध।
कहहि कबीर अधरम को, धरम बतावे बेद।।[1]

---

1. सन्त कबीर, (साखियाँ) – सम्पादक – शान्तिसेठी, प्रका. राधास्वामी सत्संग व्यास पंजाब, दसवां संस्करण – 2003, पृ. सं. 295

भगवान् महावीर ने ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुये अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्यायें कीं और जीव हिंसा ही सबसे बड़ा अधर्म है इस बात की घोषणा भी की। चाहे कितना भी बड़ा धर्म क्यों न हो, अच्छाईयाँ और बुराईयाँ हर धर्म में उपस्थित हो जाती हैं। धर्म अपने आप में एक पवित्र तीर्थ है किन्तु उसको धारण करने वाले अनुयायी व्यक्तिगत कमजोरियों को धर्म का जामा पहना कर उसे व्याख्यायित करते हैं और स्वयं के दोषों का आरोप धर्म या सम्प्रदाय पर आ जाता है। धर्म से इन्हीं कमियों को दूर करने के लिए अनेक महात्माओं ने आलोचनायें की हैं और यही कारण है कि धर्म उन दलदलों से थोड़ा-बहुत तो बच पाया। भगवान महावीर ने जो अहिंसा और शाकाहार का सन्देश दिया उसका जबरजस्त प्रभाव पूरे भारतीय जनमानस पर पड़ा। उसके स्वर जैन परम्परा में तो गूंजे ही, अन्य परम्पराओं ने भी इस शाश्वत मूल्य की सहर्ष स्वीकृति दी और उसे अपनाया।

संत रविदास जी कहते हैं कि जीव की हत्या करके कोई परमात्मा को कैसे पा सकता है? क्या महात्मा, पैगम्बर या फ़कीर कोई भी यह बात (हत्यारों को) समझाता नहीं है?

'रविदास' जीव कूं मारि कर, कैसो मिलंहि खुदाय।
पीर पैगंबर औलिआ, कोउ न कहदू समुझाय।।[2]

वे आगे कहते हैं-

'रविदास' मूंडह काटि करि, मूरख कहत हलाल।
गला कटावहु आपना, तउ का होइहि हाल।।[3]

रविदास जी कहते हैं कि प्राणियों का सिर काटकर मूर्ख लोग उसे 'हलाल' (धर्मानुकूल हिंसा) कहते हैं। जरा अपना सिर कटाकर देखो कि इस तरह सिर कटाने से तुम्हारा क्या हाल होता है?

2. रविदास दर्शन, साखी - 182, प्रका. राधास्वामी सत्संग व्यास, पंजाब
3. वही, साखी - 184

इसी प्रकार अन्य कवि सन्तों ने भी जीव हत्या का घनघोर विरोध किया है। संत दादू कहते हैं–

(दादू) गल काटै कलमा भरै, अया बिचारा दीन।
पाँचों बखत निमाज गुजारै, स्याबित नहीं अकीन।।[4]

संत कबीरदास जी कहते हैं–

मूरगी मुल्ला से कहै, जिबह करत है मोहिं।
साहिब लेखा माँगासी, संकट परिहै तोहिं।।[5]

बरबस आनिकै गाय पछारिन, गला काटि जिव आप लिआ।
जिअत जीव मुर्दा कर डारा, तिसको कहत हलाल हुआ।।[6]

संत रविदास कहते हैं कि–

'रविदास' जो आपन हेत ही, पर कूं मारन जाई।
मालिक के दर जाइ करि, भोगहिं कड़ी सजाई।।[7]

प्राणी बध का कड़ा निषेध करते हुये वे कहते हैं कि–

प्रानी बध नहिं कीजियहि, जीवह ब्रह्म समान।
'रविदास' पाप नंह छूटइ, करोर गउन करि दान।।[8]

जीवों की हत्या न करो, जीव ब्रह्म के समान है (जीव में ब्रह्म का वास है)। रविदास जी कहते हैं कि करोड़ों गौएँ दान करने पर भी जीव हत्या का पाप नहीं छूटता।

गायें दान करने से भी जीव हिंसा का पाप नहीं घूटता यह समझाते हुये कबीरदास जी ने भी कहा–

---

4. दादू दयाल की बानी, भाग – 1, साच : 14
5. सवी कबीर (सखियाँ), पृ. 295
6. कबीर साहिब का बीजक, पृ. 58
7. रविदास दर्शन, साखी – 185
8. वही, साखी – 186

तिलभर मछरी खाइकै, कोटि गऊ दै दान।
कासी, करवत लै मरै, तौ हू नरक निदान।।[9]

सभी जीव समान हैं अतः किसी भी जीव का वध नहीं करना चाहिए– यह बात कबीर रविदास तथा दादू आदि सभी संतों ने माना है– वे कहते हैं–

'रविदास' जीव मत मारहिं, इक साहिब सभ मांहि।
सभ माँहि एकउ आत्मा, दूसरह कोउ नांहि।।[10]

कबीर के शब्दों में–

जउ सम भहि एकु खुदाइ कहत हउ तउ किउ मुरगी मारै।[11]

दादू कहते हैं–

काहे कौं दुःख दीजिये, साईं है सब मांहि।
दादू एकै आत्मा, दूजा कोई नांहि।।[12]

(दादू) कोउ काहू जीव की, करै आतमा घात।
साच कहूँ संसा नहीं, सो प्राणी दोजगि जात।।[13]

जो जीव मांस खाते हैं उन्हें नरक में जाना पड़ता है यह बात कबीर और रविदास दोनों मानते हैं–

रविदास कहते हैं–

अपनह गीव कटाइहिं, जौ मांस पराया खांय।
'रविदास' मांस जौ खात हैं, ते नर नरकहिं जांय।।[14]

---

9. सन्तकबीर (सखियाँ), पृ. 294
10. रविदासदर्शन, साखी – 188
11. आदिग्रन्थ, पृ. 1350
12. दादू दयाल की बानी, भाग – 1, बया निर्बैरता – 13
13. वही, सांच – 4
14. रविदास दर्शन, साखी – 189

एक और दोहा देखिए-

दयाभाव हिरदै नहीं, भखहिं पराया मास।
ते नर नरक मंह जाइहिं, सत्त भाषै रविदास।[15]

कबीर दास जी कहते हैं-

मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आँखि देखि नर खात हैं, ते नर नरकहिं जाय।।[16]

एक और दोहा देखिए-

कबीर पापी पूजा बैसि करि, भखै मांस मद दोइ।
तिनकी देखी मुक्ति नहीं, कोटि नरक फल होइ।।[17]

रविदास जी तो स्पष्ट कहते हैं कि जो अपने शरीर के पोषण के लिए गाय, बकरी आदि का मांस खाते हैं, वे कभी भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं कर सकते, चाहे वे कितनी ही बार नमाज़ क्यों न पढ़ते रहें-

'रविदास' जउ पोषणह हेत, गउ बकरी नित खाय।
पढईं नमाजैं रात दिन, तबहुँ भिस्त न पाय।।[18]

उनके अन्य दोहे भी ऐसा ही कटाक्ष करते हैं-

'रविदास' जिभ्या स्वाद बस, जउ मांस मछरिया खाय।
नाहक जीव मारन बदल, आपन सीस कटाय।।[19]

जीवत कूं मूरदा करहिं, अक खाइहिं मुरदार।
मुरदा सम सभ होइहिं, कहि 'रविदास' विचार।।[20]

15. वही, साखी – 190
16. संत कबीर सखियाँ, पृ. 294
17. वही, पृ. 295
18. रविदासदर्शन, साखी – 183
19. वही, साखी – 187
20. वही, साखी – 191

अर्थात् जो जीवित को मुर्दा कर देता है और मुर्दे को खाते हैं वे सभी मुर्दे जैसे ही हो जायेंगे।

भारतीय विचारधारा का प्रभाव सिर्फ भारत तक सीमित नहीं रहा बल्कि यह विदेशों में भी पड़ा। ईरान में शुद्ध शाकाहारी कलन्दर सम्प्रदाय के एक संत ने फारसी भाषा में एक पद्य लिखा है जिसमें बलि पर चढ़ते हुये बकरे का बयान अभिव्यक्त हुआ है-

शुणीदा अम कि कस्साब गोसफन्दे गुप्त।
दारं जमां का गिलुयश-व-तेग तेज बुरीद।।
सजाए हर खास्व-ओ खरे कि खुरद दादं।
कंसे कि पहलुए चखं खुरद ने खरीदु।।[21]

अर्थात् एक बार मैंने सुना कि बकरे की गरदन पर जब कसाई ने तेज़ छुरी चलाना चाहा तो बकरे ने उससे कहा कि भाई मैं तो देख रहा हूँ कि हरी घास और हरे पौधे खाने की सज़ा मुझे मिल रही है और मेरी गरदन काटी जा रही है। अब कस्वाव भाई, ज़रा सोचो तो उस व्यक्ति का क्या हाल होगा, जो मेरा माँस खायेगा?

इसी प्रकार और भी अनेक पद्य हैं जिनमें अहिंसा शाकाहार का सन्देश कवियों ने जनता जनार्दन को दिया। जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्यों की वाणी का प्रभाव इन कवियों पर स्पष्ट देखा जा सकता है। यह बात भी सही है कि शाकाहार के पालन के सन्दर्भ में जितनी दृढ़ता जैनधर्म के अनुयायियों ने दिखलायी उतनी अन्य ने नहीं दिखलायी। मानवीय मूल्यों की रक्षा करने में जैनधर्म और उसकी आचार पद्धति का अप्रतिम योगदान मानव जाति के ऊपर रहा है यह बात कवियों के इन दोहों में भी प्रतिबिम्बित होती है।

21. परमपुरुषार्थ अहिंसा, पृष्ठ 40

परिशिष्ट-2

इस्लाम पर अहिंसा का प्रभाव

भारत सदाकाल से अहिंसा, शाकाहार, समन्वय और सदाचार का हिमायती रहा है, उसकी कोशिश रही है कि सभी जीव सुख से रहें। 'जिओ और जीने दो'-जैनधर्म का मूलमंत्र है। जैनधर्म ने अपने इस उदारवादी सिद्धान्तों से मुल्क के तथा विदेशी मुल्कों के हर मजहब और तबके को प्रभावित किया है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'विश्व वाणी' के यशस्वी सम्पादक पूर्व राज्यपाल तथा इतिहास विशेषज्ञ डॉ. विशम्बरनाथ पाण्डेय ने अपने एक निबन्ध 'अहिंसक परम्परा'[1] में इस बात का ज़िक्र किया है। वे लिखते हैं कि 'इस समय जो ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि ईसवी सन् की पहली शतब्दी में और उसके बाद के 1000 वर्षों तक जैनधर्म मध्य-पूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम को प्रभावित करता रहा है।

प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान क्रेमर के अनुसार 'मध्य-पूर्व' में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी.एफ. मूर के अनुसार 'हजरत' ईसा की जन्म शताब्दी से पूर्व इराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों तरफ फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथियोपिया के पहाड़ों और जङ्गलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे, ये साधु वस्त्रों तक का त्याग किये हुये थे।' अर्थात् वे दिगम्बर थे।

'सियाहत नामए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दरों की जमात

---

1. हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 372 से 376

परिव्राजकों की जमात थी। कोई कलन्दर दो रात से अधिक एक घर में न रहता था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे–साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

डॉ. कामता प्रसाद जैन अपने एक निबन्ध 'विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा'[1] मे लिखते हैं कि 'मध्यकाल में जैन दार्शनिकों का एक संघ बगदाद में जम गया था; जिसके सदस्यों ने वहाँ करुणा और दया, त्याग और वैराग्य की गंगा बहा दी थी। 'सियाहत नामए नासिर' के लेखक की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म के कलन्दर तबके पर जैनधर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। वे लोग अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अहिंसा का पालन करते थे, ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

श्री विशम्भरनाथ पाण्डेय लिखते हैं कि 'एक बार दो कलन्दर मुनि बगदाद में आकर ठहरे। उनके सामने एक शुतुर्मुर्ग किसी का हीरों का हार निगल गया। सिवाय कलन्दरों के किसी ने यह बात नहीं देखी। हार की खोज शुरू हुई। कोतवालों को कलन्दर मुनियों पर सन्देह हुआ। मुनियों ने मूक पक्षी के साथ विश्वासघात करना उचित नहीं समझा। उन्होंने स्वयं कोतवालों की प्रताड़ना सहन कर ली लेकिन शुतुरर्मुर्ग के प्राणों की रक्षा की।

डा. कामता प्रसाद लिखते हैं कि 'अलविया फिर्कें के लोग हज़रत अली की औलाद से थे–वे भी मांस नहीं खाते थे और जीव दया को पालते थे। ईसा की 9वीं–10वीं शती में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में भारतीय पण्डितों और साधुओं को बड़े आदर से निमंत्रित किया जाता था। इनमें जैन और बौद्ध साधु भी होते थे। इस सांस्कृतिक संपर्क का सुफल यह हुआ कि ईरान में अध्यात्मवाद जगा और जीव दया की धारा बही।'

वे लिखते हैं कि प्राचीनकाल में अफगानिस्तान तो भारत का ही एक अंग था और वहाँ जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रचार होने से अहिंसा का

---

1. परमपुरुषार्थ अहिंसा, पृ. 14–19

अच्छा प्रचार था। ई. 6वीं, 7वीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग को वहाँ अनेक दिगम्बर जैन मुनि मिले थे।

अरब का उल्लेख जैन आगमों में मिलता है। भारत से अरब का व्यापार चलता था। जादिस अरब का एक बड़ा व्यापारी था–भारत से उसका व्यापार खूब होता था। भारतीय व्यापारी भी अरब जाते थे। जादिस का मित्र एक भारतीय वणिक था। वह ध्यानी योगी की मूर्ति भी अपने साथ अरब लाया और उसकी पूजा करता। जादिस भी प्रभावित हो पूजा करने लगा। मौर्य सम्राट सम्प्रति ने जैन श्रमणों, भिक्षुओं के विहार की व्यवस्था अरब और ईरान में की, जिन्होंने वहाँ अहिंसा का प्रचार किया। बहुत से अरब जैनी हो गये, किन्तु पारस नरेश का आक्रमण होने पर जैन भिक्षु और श्रावक भारत चले आये। ये लोग दक्षिण भारत में बस गये और 'सोलक' अरबी जैन कहलाये।'

वे आगे लिखते हैं कि–'सन् 998 ई. के लगभग भारत से करीब बीस साधु संन्यासियों का दल पश्चिम एशिया के देशों में प्रचार करने गया। उनके साथ जैन त्यागी भी गए, जो चिकित्सक भी थे। इन्होंने अहिंसा का खासा प्रचार उन देशों में किया। सन् 1024 के लगभग यह दल पुनः शान्ति का सन्देश लेकर विदेश गया और दूर-दूर की जनता को अहिंसक बनाया। जब यह दल स्वदेश लौट रहा था तो इसे अरब के तत्त्वज्ञानी कवि अबुल अला अल मआरी से भेंट हुयी। जर्मन विद्वान् फ्रान क्रेमर ने अबुल-अला को 'सर्वश्रेष्ठ सदाचारी शास्त्री और सन्त कहा है।'

अबुल-अला गुरू की खोज में घूमते-घूमते जब बगदाद पहुँचे, तो बगदाद के जैन दार्शनिकों के साथ उनका समागम हुआ था और उन्होंने जैनशिक्षा ग्रहण की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अबुल अला पूरे अहिंसावादी योगी हो गये। वे केवल अन्नाहार करते थे। दूध नहीं लेते थे, क्योंकि बछड़े के दूध को लेना वे पाप समझते थे। बहुधा वे निराहार रहकर उपवास करते थे। कामता प्रसाद जी लिखते हैं कि वे शहद और अण्डा भी

नहीं खाते थे। पगरखी लकड़ी की पहनते थे। चमड़े का प्रयोग नहीं करते थे। नंगे रहने की सराहना करते थे, सचमुच वे दया की मूर्ति थे।

डॉ. विशम्भर नाथ पाण्डेय ने उनके एक भजन का अर्थ लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि सभी जीव जन्तुओं यहाँ तक कि कीड़े-मकोड़ों के प्रति भी वे अपरिसीम करुणापरायण थे। उनके भजन का भावार्थ है– 'वृथा पशुहिंसा में क्यों जीवन कलंकित करते हो। बेचारे वनवासी पशुओं का क्यों निष्ठुर भाव से संहार करते हो। हिंसा सबसे बड़ा कुकर्म है। बलि के पशुओं का आहार मत बनाओ अण्डे और मछलियाँ भी मत खाओ। इन सब कुकर्मों से हमने अपने हाथ धो डाले हैं। वास्तव में आगे जाकर न बधि रहेगा और न बध्य। काश कि बलि पकने से पहले मैंने इन बातों को समझ लिया होता।'

जीव दया का यह चिन्तन कुरआन मजीद में भी प्रकट हुआ है। 'अन-नस्ल' में 23 आयतें हैं जो मक्का में उतरीं थीं। उनमें एक प्रसङ्ग बड़ा महत्त्वपूर्ण है–

''सुलैमान के लिए उसकी सेनायें एकत्र की गयीं जिनमें जिन्न भी थे और मानव भी, और पक्षी भी, और उन्हें नियंत्रित रखा जाता था; यहाँ तक कि जब ये सब च्यूँटियों की घाटी में पहुँचे, तो एक च्यूँटी ने कहा : हे च्यूँटियों! अपने घरों में घुस जाओ ऐसा न हो कि सुलैमान और उनकी सेनायें तुम्हें कुचल डालें और उन्हें खबर भी न हो।'' इसी पृष्ठ पर नीचे सन्दर्भ में लिखा है कि च्यूँटियों की बात कोई सुन नहीं पाता; परन्तु अल्लाह ने हसरत सुलैमान अ. को च्यूँटियों की आवाज़ सुनने की शक्ति प्रदान की थी।'[1]

कुरआन मजीद का यह प्रसङ्ग इसलिए संवेदनशील है कि संसार के छोटे से प्राणी चींटी की भी हृदय वेदना की आवाज को सशक्त अभिव्यक्ति देकर इस ग्रन्थ में उकेरा गया है। यह अहिंसक भावना की सशक्त अभिव्यक्ति है। हमें ऐसे प्रसङ्गों को उजागर करके सामने लाना चाहिए ताकि अहिंसा के प्रति मुसलमानों का विश्वास और बढ़े।

1. कुरआन मज़ीद, पार-12, सूर-27 'अन-नस्ल' पृ. 424

बाद में सूफी कवियों ने भी अपनी रचनाओं में उन्हीं आध्यात्मिक चेतना को आवाज़ दी जो जैन परम्परा की अमूल्य मौलिक धरोहर रही है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

ता न गरदद नफ्स ताबे रुहरा, कैद वा यावी दिले मजरूहरा।
मुर्गे जाँ अज़ हत्से तन यावद रिहा, गर बतेग् लकुशी ईं अज़हदा।।

अर्थात् जब तक कि नफ्स (इन्द्रियाँ) आत्मा के वश में नहीं होतीं, तब तक हृदय का आताप–सन्ताप दूर नहीं हो सकता, शरीर सम्बन्ध से भी आत्मा मुक्त हो जाये, यदि इस अजदहे (नफ्स) को वैराग्य के खड्ग से मार डाला जाय।'

डॉ. विशम्भर लिखते हैं कि 'सालेह बिन अब्दुल कुद्दूस भी एक अहिंसावादी परिव्राजक मुनि था जिसे उसके क्रांतिकारी विचारों के कारण सन् 793 ई. में सूली पर चढ़ा दिया गया। अकुल अताहिया, जरीर, इब्न हज्म, हम्माद अजरद, यूनान बिन हारून अली बिन ख़लील और बरशार अपने समय के प्रसिद्ध अहिंसावादी निर्ग्रन्थी फकीर थे।'

वे आगे लिखते हैं कि नवमी और दशमी शताब्दियों में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में भारतीय पंडितों और साधुओं को आदर के साथ निमंत्रित किया जाता था। इनमें बौद्ध और जैन साधु भी रहते थे। इब्न–अन नजीम लिखता है कि–'अरबों के शासनकाल में यहिया इब्न खालिद बरमकी ने खलीफ़ा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत से हिन्दू, बौद्ध और जैन विद्वानों को निमंत्रित किया।'

इसी प्रकार जैन धर्म–दर्शन ने जलालुद्दीन रूमी एवं अन्य अनेक ईरानी सूफियों के विचारों को प्रभावित किया।

सारांश के रूप में हम यह कह सकते हैं कि संसार की प्रत्येक धर्म, संस्कृति, सभ्यतायें और दर्शन सदा से एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं।

जैन संस्कृति के अहिंसावादी आचार–विचार से इस्लाम धर्म भी काफी प्रभावित हुआ। कुरआन की आयतों में तो अहिंसा, जीवदया, करुणा का प्रतिपादन तो था ही, साथ ही उदारवादी तथा व्यापक सोच रखने वाले इस्लामिक सूफियों और दार्शनिकों को जब अन्य परम्पराओं में इन अच्छाइयों का उत्कृष्ट स्वरूप दिखाई दिया तो उन्होंने उन सद्‌गुणों को ग्रहण किया क्यों कि उन्हें यह भी याद था कि '**अल्लाह के पैग़म्बर प्रत्येक जाति में हुये हैं**'[1]।

प्राय: धार्मिक संकीर्णतायें हमारे चिन्तन को विकसित नहीं होने देतीं। आम अनुयायी वही जानते, समझते और मानते हैं जो धर्मगुरुओं द्वारा उन्हें बतलाया जाता है। आग्रहवश तथाकथित धर्मगुरु भी शास्त्रों के उन प्रसङ्गों को ज्यादा उभार कर व्याख्यायित करते हैं जिससे उनके स्वयं के आग्रह पुष्ट हों। फलस्वरूप शास्त्र की मूल दृष्टि समाज के सामने नहीं आ पाती है। शास्त्रों के नाम पर गलत सन्देश समाज को प्रसारित कर दिये जाते हैं। लोग भूलवश खुदा की आज्ञा समझकर ऐसे कृत्य भी करने लग जाते हैं जिन्हें खुदा पसन्द ही नहीं करता। इस समस्या के समाधान के लिए जरूरी है अपनी विवेक चेतना को विकसित किया जाय, **स्वयं सत्य खोजें**–का स्वर मुखरित किया जाय और स्वयं मूलग्रन्थों को पढ़कर सही ज्ञान को सामने लाया जाय।

इस प्रकार यदि और भी अनुसन्धान किये जायें तो इस्लाम में अहिंसा के प्रभाव, सिद्धान्त और प्रयोगों को और अधिक व्यापक रूप में खोजा जा सकता है।

---

1. कुरआन मज़ीद, सूर 10, आयत 47, 13/7, 30/47, 35/24, 24, 14/4

परिशिष्ट-3

आतंक के नये चेहरे और शान्ति एवं अहिंसा

आज मनुष्य मानसिक रूप से अस्वस्थ है। मानसिक अस्वस्थता के कई कारण हैं। उन कारणों में जैविक असन्तुलन, दूषित खानपान, दूषित विचार, दूषित वातावरण आदि प्रमुख कारण हैं। इस कारण मनुष्य मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाता है। हिंसा का विचार बहुत बड़ी मानसिक अस्वस्थ्यता है। आतंकवाद भी एक मानसिक बीमारी का नाम है।

आतंकवाद आज बहुत विकराल रूप से हमारे सामने खड़ा है। यह समस्या आज इतनी अधिक बढ़ गई है कि इसने मनुष्य जीवन की अन्य सभी समस्याओं को पीछे ढकेल दिया है। चारों तरफ चर्चा चल रही है कि इस पर काबू कैसे पाया जाय? मैं समसामयिक सन्दर्भ में यह प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ कि आज जिसे हम आतंकवाद समझ रहे हैं मात्र वह ही इस देश के लिए 'आतंक' नहीं है।

'आतंक' एक मानसिक बीमारी है जो कई रूपों में हमारे समाज को विषाक्त बना रही है। हर घर में 'ओसामा बिन लादेन' जैसे लोग बैठे हैं बस अन्तर इतना है कि वह लादेन अभिव्यक्त है जिससे अमेरिका भी परेशान था और शेष अनभिव्यक्त। हिंसा का जहर यदि मन में बैठा है तो वह कभी न कभी अभिव्यक्ति पायेगा ही। समय-समय पर लादेन जैसे पैदा होते रहेंगे।

आतंकवाद का नाम भले ही हमने बीसवीं सदी में सुना हो, पर यह कृत्य सदियों से हावी रहा है। इतिहास गवाह है कि आतंकवाद रूपी विषधर से आज न तो सोहनी महीवाल का पंजाब बचा है और न कमनीय कुंज गलियों वाला कृष्ण कन्हैया और राधा का ब्रज। इसके दारुण दंश की व्यथा से न तो महावीर, बुद्ध के उपदेशामृत से सिंचित बिहार ही वंचित है और न ही चैतन्य की भास्वर भक्ति की स्निग्ध रस धारा से आप्लावित बंग ही।

केशर कुंकुम से सुरभित कश्मीर की कमनीय केशर क्यारियों की श्यामल हरितमा आज अपने ही स्वजन के रक्ताश्रुओं के महासागर में विलीन हो चुकी है। काम रूप की कामाख्या अपने ही दिग्भ्रान्त मातृहन्ताओं की काली करतूतों पर मातम मना रही है। पूरे विश्व को अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले 'बापू' का गुजरात इसी हिंसा से झुलस चुका है, सड़कें शोले बिछा रही हैं और डगरों पर डाकू दस्तक दे रहे हैं। हर रास्ते पर रहजन खड़े हैं तथा हॉटचॉट पर बटमार बैठे हैं। फिर शान्ति मिले तो कहाँ और किधर? यह आतंकवाद अमेरिका जैसे शक्तिशाली देशों के लिए भी गले की हड्डी बन गया। नेपाल भी इसकी चपेट में घिरकर राख हो रहा है। भारतीय संसद पर हमला इसका अतिवाद है। क्या कारण है इस आतंकवाद का? जरा गहराई से विचार करें।

आतंकवाद का अर्थ

आतंकवाद प्रायः सीमित दायरे में परिभाषत किया जाता है। आतंकवाद संज्ञा तो नयी है, किन्तु इसे यदि हम विस्तृत पटल पर परिभाषित करें तो पायेंगे कि प्राचीन काल से ही जब से हमारा इतिहास मिलता है आतंकवाद किसी न किसी रूप में हमारे आस-पास मौजूद रहा है। जनमानस को सदैव किसी न किसी दबाव ने, आतंक ने कुण्ठित किया है।

पौराणिक आख्यानों में देवताओं और असुरों के संघर्ष भरे पड़े हैं। ऋषि-मुनियों के यज्ञों में, तपस्या में तथा जन सामान्य शान्ति में विघ्न डालने वाले राक्षसों की कथा हमने बुजुर्गों के मुख से बहुत सुनी व किताबों में पढ़ी है। वस्तुतः आतंकवाद तब से ही मौजूद है जब से इस मनुष्य जाति का उद्‌भव हुआ।

आज के परिप्रेक्ष्य में आतंकवाद का अभिप्राय सशस्त्र और गुरिल्ला गतिविधि का पर्याय माना जाता है। देशभक्त शहीद चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह यदि हमारे लिए स्वतंत्रता आन्दोलन के क्रान्तिकारी के रूप में पूजने योग्य राष्ट्रभक्त माने जाते हैं तो अंग्रेजों के लिए वे निहायत खूंखार और

हिंसक आतंकवादी थे। अतः इस बात पर विचार किया जा सकता है कि Convention on Prevention and Punishment of Terrorism 1937 द्वारा परिभाषित आतंकवाद की इस परिभाषा– "Criminal Acts diverted against a state and intended or calculated to create a state of terror in the minds of Particular Persons, a group of Persons or the general Public." को क्या हम एक पूर्ण परिभाषा कह सकते हैं?

प्रत्येक मानव के अन्दर सत्व, रज और तम ये तीन गुण मौजूद होते हैं किन्तु प्रकट रूप में किसी एक गुण की प्रधानता होती है। यहाँ यह अन्तर स्पष्ट करना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि हमारी मूल समस्या आतंकवाद है न कि आतंकवादी। व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन, उसकी ऊर्जा का सृजनात्मक दिशा में उपयोग हो सके ऐसे अवसरों का अभाव, अभिव्यक्ति का ह्रास, प्रियजनों के द्वारा दिया जाने वाला धोखा, उनका अकारण वियोग, अनावश्यक समाजिक दबाव और अच्छे संस्कारों की शून्यता तथा धार्मिक कट्टरता और इन सभी कारणों से उत्पन्न मानव मन में किसी अनैतिक और अनिष्टकारी लक्ष्यों का उत्पन्न होना और उसके द्वारा उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हृदय में उठने वाले भाव, मस्तिष्क में आने वाले विचार और उनके रवैयों को हम किसी हद तक आतंकवाद कह सकते हैं।

आतंकवाद की जड़

आतंकवाद की कोई उम्र नहीं होती। दो वर्ष का बालक यदि चॉकलेट न मिलने पर डंडे से घर का टी.वी. फोड़ता है तो क्या उसे हम आतंकवाद का शैशव काल नहीं मानेंगे? इस आधार पर हम **''आतंक''** को मूल जड़ से समझने का प्रयास करेंगे।

बालमन में आतंक के बीज

आज किन्हीं दस बालकों को चुनकर एक बड़ी खिलौनों की दुकान में अकेले छोड़ दिया जाये और यह स्वतंत्रता दी जाए कि वे इस पूरे भण्डार में अपनी पसंद का कोई एक खिलौना चुनकर बाहर ले आयें तो निश्चित तौर

पर उन दस बालकों में से आठ बालकों के हाथ में प्लास्टिक की स्टेनगन, रिवाल्वर, बन्दूकें तथा इसी प्रकार के हिंसक हथियार होंगे। स्कूलों में बढ़ता अनावश्यक किताबी बोझ, होमवर्क न करने पर उत्पन्न किया गया घर पर माँ-बाप, ट्यूटरों और महँगे स्कूलों में शिक्षकों द्वारा व्याप्त आतंक बालमन में कुण्ठा पैदा करता है और हिंसात्मक फिल्में, एनिमेशन, सीरियल तथा कॉमिक्स का जुनून उन्हें इन कुण्ठाओं से उबरने के लिए उनके मन में बन्दूक संस्कृति के रूप में हिंसक प्रवृत्तियों का जहर घोलता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह प्लास्टिक की स्टेनगन से करर-करर करके सबको भूनने की बातें करता और सोचता है। यद्यपि हम इसे खेल समझते हैं किन्तु हिंसानन्दी खेल, खेल नहीं, हिंसा का प्रशिक्षण है जो बाल्यकाल से प्रारम्भ होता है। इसे हम आतंकवाद आदि हिंसक प्रवृत्तियों के प्रशिक्षण का शैशव काल कह सकते हैं।

किशोर मन में आतंक के बीज

किशोर वय हर मनुष्य के जीवन में सन्धि का काल होती है। कल्पनालोक व यथार्थ के मध्य भटकता किशोर जब अपनी इच्छाओं की पूर्ति व प्यार की अभिलाषा माँ-बाप और अन्य परिजन से प्राप्त नहीं कर पाता है तब वह उम्र की उठान पर ही घनघोर हताशा और निराशा का शिकार हो जाता है। गलत संगतियों में पड़कर आक्रोश, नशा और समाज की हर घटनाओं के प्रति विद्रोही स्वर उसकी रग-रग में दौड़ने लगता है। दिल्ली-गुडगांव के स्कूलों में नौवीं-दसवीं के छात्रों के द्वारा चाकुओं से हमला, रिवाल्वर द्वारा मर्डर की घटनायें हमने हाल ही में सुनी-पढ़ी हैं। यह आतंकवाद की हिंसात्मक अभिव्यक्ति से थोड़ा पहले की अवस्था है।

युवा मन में आतंक

युवा शक्ति के सामने संसार की सारी शक्तियाँ अपना सिर झुकाती हैं। इस उम्र में युवा जहाँ अपना कैरियर निर्माण कर रहा होता है वहीं दूसरी ओर युवतियों की नशीली आँखों का ग्लैमर और अपना प्रिय जीवन साथी

खोजने की उत्कण्ठ आकांक्षा उसके मानस को व्यग्र बनाए रखती है। युवा अवस्था में शरीर व मन अपूर्व ऊर्जाओं और आकांक्षाओं का भण्डार होता है। इस अवस्था में जब उसे रोजगार नहीं मिलता, उसकी ऊर्जा का सही उपयोग नहीं होता, प्रेम-प्रसंगों में जब वह असफल हो जाता है तब उसकी ऊर्जा का उपयोग राजनैतिक और साम्प्रदायिक लोग आतंक व हिंसा के लिए करते हैं और ऐसी परिस्थितियों में युवकों का यह भटकाव आग में घी का काम करता है, ज्वाला धधकती है और आतंकवाद प्रवर्धमान होता रहता है।

आतंकवाद के रूप-

अभिजात्य वर्ग और पूंजीवादियों का आतंक

समाज का एक वर्ग है जो सदा से अपने आपको ऊँचा समझता आया है। यह वर्ग अपनी पुस्तैनी दुष्प्रवृत्तियों के आधार पर सामान्य वर्ग को कई तरीकों से भयभीत रखता है। देश के लगभग 20 प्रतिशत लोग अपनी सामन्तशाही प्रवृत्तियों से देश के 80 प्रतिशत सामान्य मनुष्यों के स्वाभाविक विकास करने के अवसरों को छीन लेते हैं। ऐसी दशा में समाज में असामान्य वितरण, एक पक्षीय विकास, शोषण इत्यादि ऐसे कारण बन जाते हैं जो इनके कारण रूप शक्तियों को नष्ट करने के लिए क्रान्ति के रूप में तब्दील हो जाते हैं और इसी क्रान्ति को आतंकवाद की संज्ञा दी जाने लगती है। नक्सलाइट इसी तरह का आंतक है।

लालफीताशाही का आतंक

देश में अधिकांश शिक्षित वर्ग ऐसा है जिनके ऊपर हूकूमत का जुनून प्रारम्भ से ही चढ़ा रहता है वे वास्तव में प्रशासनिक सेवाओं में आने के बहाने अपनी अन्दर की ज्वाला को शान्त करने का माध्यम अपने पदों को बना लेते हैं। ये जनता के रक्षक एवं सेवक बनने के नाम पर सामान्य जनता को बेवजह प्रताड़ित करने से भी बाज नहीं आते। यह भी आतंकवाद का ही एक चेहरा है जो अपना हितैषी बनकर कानून और अधिकारों के माध्यम से जनता के दिल से भय दूर करने की अपेक्षा स्वयं अपना भय स्थापित कर लेता है।

पाखण्डवादियों का आतंक

देश में तथाकथित संतों और साधुओं का एक बड़ा वर्ग भी निवास करता है जो धर्म के नाम पर सामान्य जनता के मन में अनेक तरीकों से आतंक बनाए रखता है। आज 21वीं शताब्दी में भी अनैतिक मनोकामनाओं की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े उद्योगपति, नेता और माफिया भी इन साधुओं के माध्यम से अनुष्ठान करते और नर बलियाँ तक चढ़ाते दिखाई दे जाते हैं। इसी प्रकार के और भी इनके विविध आतंकवादों के रूपों के ऐसे चेहरे हैं जिनकी तरफ सामान्यत: लोगों का ध्यान नहीं जाता।

ज्ञान का आतंक

आज समूचा जगत् सूचनाओं का शिकार हो गया है। हम सूचना संस्कृति में जीने के लिए मजबूर हैं। हमें मजबूरन 75 प्रतिशत ऐसी बातों का ज्ञान रखना पड़ता है, जिनका हमारे वास्तविक जीवन से कोई सरोकार नहीं है। पाठ्यक्रमों में अनावश्यक वृद्धि, परीक्षाओं में '**छटनी पद्धति**' के आधार पर योग्यताओं और प्रतिभाओं का निर्धारण, भाषा विशेष के ज्ञान की प्रमुखता तथा शिक्षा का वैश्वीकरण इत्यादि ऐसे कारण बन रहे हैं जो वास्तविक सृजनात्मक प्रतिभाओं को आगे बढ़ने से रोक देते हैं। यह भी समाज में समाधान के स्थान पर समस्या बनकर आतंक की तरह फैल रहा है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा विशेष की बाध्यता कुंठा-भय को जन्म दे रही है।

आधुनिकता का आतंक

यह हम पहले भी कह चुके हैं कि आतंक को मार-काट तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। भारतीय मानस में एक और नया आतंक फैल चुका है जो कई नई समस्याओं को जन्म दे रहा है। वह है नई आधुनिकता का '**आतंक**' आज अच्छा बनने की अपेक्षा अच्छा दिखने का जुनून लोगों के दिलों पर सवार है। आधुनिकता के दिखावे के अनुसार श्रेष्ठ वह नहीं जो कुर्ता-पजामा पहन कर नये आविष्कार करे बल्कि श्रेष्ठ वह समझा जा रहा है जो फटी जीन्स, टी-शर्ट पहनकर बीयर-बार मे भौड़े डान्स करे। इस आतंक

ने विशेषकर युवकों को भटका दिया है।

इसी का परिणाम है कि समाज का एक वर्ग एक तरफ तो जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित है वहीं दूसरी तरफ एक पैग विस्की के लिए एक लड़की जेसिका लाल उस देश की राजधानी में मारी जाती है जिस देश के 60 प्रतिशत ग्रामीण व शहरी निवासी पानी के साफ पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं। आधुनिकता का नशा उस गरीब को भी, पेप्सी, लिम्का, थम्स-अप पीने का आदी बना रहा है जो घर में अपने बच्चों को दूसरे वक्त की रोटी देने तक में समर्थ नहीं है।

उपभोक्तावाद का आतंक

आज की सबसे संगीन तात्कालिक सामाजिक सूचना शायद यही है कि हमारे यहाँ अब उपभोक्तावाद हिंसक और आक्रामक हो गया है। दिल्ली में जेसिकालाल को इसलिए गोली मारी गयी थी क्योंकि उसने मनु शर्मा को और उसके साथियों को व्हिस्की देने से इंकार किया। लखनऊ में आइसक्रीम वाले रघुराज को राकेश ने इसलिए मार डाला था क्योंकि उसके पास कसाटा नहीं था। ये लोग ताकतवर, अमीर और अपराधी हो गये हैं। रातों में तेज रफ्तार से दौड़ती इनकी कारें फुटपाथ पर सो रहे और सड़कपर चल रहे राहगीरों को आसानी से कुचल डालती हैं।

नव धनाढ्य समाज के बड़े बापों के बिगड़ैल बेटों के हाथों से मासूमियत से हो जाने वाली अनजानी परिणतियों वाली कत्ल की अनचाही घटनाएँ हैं या चरम भोगवाद की मध्य कालीन लोलुपता की नयी हिंसक पुनरावृत्तियाँ हैं? या राज्य के संरक्षण में लम्पट और बर्बर हो उठे उपभोक्तावाद की नयी शक्ल है या पिछले एक डेढ़ दशक से लगातार आर्थिक भ्रष्टाचार और जघन्य सामाजिक अपराधों में लिप्त हमारे समाज के शिखर वर्ग के एक नये और अपेक्षाकृत डरावने चेहरे को उजागर करते संकेत रूपक हैं?

आज के दौर में हम एक ऐसे अभिजन वर्ग का उभार देख रहे हैं जो अपनी जीवन शैली और आकांक्षाओं में हमारे देश और समाज की

वास्तविकताओं से पूरी तरह विच्छिन्न है, कटा हुआ है। अपने इस सामाजिक अलगाव और निर्वासन को भरने के लिए वो ऐसी नाइटपार्टियों में जाते हैं जैसे बीना रमानी के कुतुब कोलोनेट की पार्टी थी। हमारा दिन व्यापार या राजनीति में गुजरता है और उसकी संस्कृति रात में शुरू होती है।

हमारी 'नाक्टरनल कल्चर' या 'निशाचर' संस्कृति उस काली दौलत से पैदा हुई है जिसे अधिक परिष्कृत अंग्रेजी लहजे में 'सॉफ्टमनी' या 'पतली कमायी' कहते हैं। यह गाढ़ी कमाई की विलोम होती है। अपराध और ङ्कहसा उसका सहज 'बाइप्रोडक्ट' है। यही वह हिस्सा है जिसने हमारे देश और समाज के सामने 'नैतिक महाशून्यता' का यह विराट परिदृश्य निर्मित किया है। अब निश्चित ही इस निशाचर संस्कृति की रात के अंधेरे में डोलती परछाइयों और उसके आतंक के पहचान के लिए ज्यादा आधुनिक नहीं, ज्यादा उपभोक्तावादी नहीं बल्कि प्राचीन परिभाषाओं में जाना ही पड़ेगा, लेकिन ऐसा करते हुए हमें शर्म आ सकती है क्योंकि हमने अब परमाणु बम बना डाले हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न्यूक्लियर क्लब के सदस्य बन चुके हैं।

कैसे पायें निजात?

आज ऐसे वक्त में इस विकराल समस्या को जो कि हमारे जीवन के प्रत्येक घटक को प्रभावित करती है का समाधान किसी एक दृष्टिकोण से नहीं सोचा जा सकता। ऐसे वक्त में जब देश में न तो वे शक्तियाँ सक्रिय हैं जो मनुष्य के मन में अहिंसा का संस्कार देती हैं और न वे शक्तियाँ ताकतवर हैं जो हिंसक मन वाले मनुष्य की गतिविधि पर रोक लगाती हैं तब इस समस्या का समाधान क्या होगा? इसको समझने के लिए वास्तव में अतिरिक्त कुछ करने की आवश्यकता नहीं है?

अब हमारी चिंता का केन्द्र बिन्दु यह होना चाहिए कि मानव का मन अहिंसक संवेदनशील और सामाजिक न्यायपूर्ण संस्कार में किस तरह दीक्षित हो और उसकी चिंता यह होनी चाहिए कि हिंसक मनुष्य के असामाजिक

व्यवहार को नियंत्रित करने वाली वैधानिक प्रक्रियाएं किस तरह मजबूत हों? जाहिर है ये दोनों काम एक व्यापक क्रान्ति की मांग करते हैं। हम इस समस्या के समाधान के लिए निम्नप्रकार के बिन्दुओं पर विचार कर सकते हैं–

समाधान (क)

एक हिंसक मनुष्य ङ्कहसा करने से तब बचता है जब उसे सामाजिक बहिष्कार का भय हो या फिर कानून का भय हो या अपनी ङ्कहसा के एवज़ में दण्डित होने का भय हो। इसके लिए हमें समाज और कानून दोनों ही संस्थाओं में नई ऊर्जा का संचार करना पड़ेगा। जो पापी को दण्ड देकर पाप के प्रति भय तो बरकरार रखे ही साथ ही एक ऐसा संतुलन भी कायम रखे जहाँ घृणा पाप के प्रति की जाए न कि पापी के प्रति। इन दोनों ही बातों का मापदण्ड विवेक ही होगा।

समाधान (ख)

आतंकवाद के प्रतिरोध की सभी कार्यवाही नागरिक प्रशासन के नियंत्रण में भी होनी चाहिए ताकि इसे रोकने में समाज की भी भूमिका रहे।

समाधान (ग)

भारतीय जेलों में कैदियों को सामाजिक परिवेश व सुविधाएं देकर उनमें इस आशा का संचार किया जाए कि वे अपने में निहित ऊर्जाओं का उपयोग सृजनात्मक कार्यों में करके उन्नति कर सकते हैं तथा समाज का भी यह दायित्व इस स्थान पर बनता है कि यह सुधारे हुए कैदियों को कैद मुक्त होने पर समाज में पुन: प्रतिष्ठा भी दे।

समाधान (घ)

आधुनिकता मनुष्य की मानसिकता से जुड़ी हुई चीज है। यह उसके भीतरी सोच का प्रतिबिम्ब है। आधुनिकता की परिभाषा में ऐसा

परिवर्तन हो जिसमें विकसित दिखने और कहलाने की अपेक्षा विकसित होने का भाव ज्यादा निहित हो ताकि समाज का उपेक्षित वर्ग इस आधुनिकता से आतंकित न होकर उसे अपने विकास का साधन माने और देश की मूल धारा में सम्मिलित हो सके।

समाधान (ङ)

पूंजीवाद के आतंक की समस्या को नोबल पुरस्कार प्राप्त अमर्त्यसेन की दृष्टि से समाधान हेतु देखना पड़ेगा क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र को नैतिकता से जोड़ने वाले विचार हमारे सामने प्रस्तुत किये। वे हमारा ध्यान इस ओर दिलाते हैं कि दुनिया के हर देश में धन पैदा करने वाले सारे फार्मूले एवं तरीके नीतिशास्त्र के अन्तर्गत ही सिखाए जाते थे। पूंजी एकत्र करने का आधार हिंसा के स्थान पर यदि नीति हो तो भय कैसा?

समाधान (च)

आतंकवाद के सन्दर्भ में जो हिंसा का अभिप्राय है वह समाधान तभी प्राप्त कर सकता है जब मूल जड़ पर चिन्तन किया जाय। यदि मानव मन में हिंसा, विद्रोह के बीज पड़े ही नहीं तब वह अभिव्यक्त रूप में सामने नहीं आयेगी। इसके लिए **'अहिंसा प्रशिक्षण'** की नवीन अवधारणा वरदान बन सकती है। छोटे-छोटे बच्चों को प्लास्टिक की बंदूकें खरीद कर देना हिंसा का बीज रोपना ही है। इससे उबरा जाए। ध्यान, योग, इत्यादि के अधिकाधिक प्रशिक्षण दिये जायें जिनसे या तो आत्मा में हिंसा का विभाव उत्पन्न ही न हो या फिर यदि उत्पन्न होता है तो मानव विपरीत परिस्थितियों में भी अपना भावात्मक संतुलन बनाये रखने में सफल हो सके।

समाधान (छ)

आतंकवादियों के वर्ग में सर्वाधिक संख्या युवकों की है। बेरोजगारी, भ्रष्टाचार इत्यादि समस्याओं से निजात पाने पर युवकों को संभाला जा सकता है। खेल, कला, साहित्य-संस्कृति के अधिकाधिक अवसरों को

उपलब्ध करवाकर युवकों की ऊर्जा और ध्यान का रूपान्तरण किया जा सकता है। सिर्फ बौद्धिक विकास करने के स्थान पर यदि युवकों को साथ ही साथ निजी लघु उद्योगों, तकनीकी कार्यों तथा स्वरोजगार का प्रशिक्षण भी दिया जाए तो सार्थक परिणाम सामने आयेंगे और विद्रोह-आतंक जैसे विचारों के लिए उसके पास वक्त ही न होगा।

आतंकवाद-आन्तरिक छटपटाहट की अभिव्यक्ति

वस्तुतः आतंकवाद, हिंसा और आक्रामकता के अनेक कारण हैं और कोई एक कारण प्रमुख नहीं है। आज भारतीय समाज विशेषतः नगरों और महानगरों में रहने वाला समाज एक गंभीर सांस्कृतिक-सामाजिक और आर्थिक बदलाव से गुजर रहा है। निश्चय ही व्यक्ति अकेला होता जा रहा है। समाज की इकाइयों से दूर और निरपेक्ष अकेला व्यक्ति जो अपने को महानायक की भूमिका में स्थापित करना चाहता है, एक जंग लड़ रहा है अपने परिवेश में। उस पर काबू पाने के लिए एक जंग तो अपने से लड़ रहा है और दूसरी जंग अपने सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक अतीत से मुक्त होने के लिए। इस दुहरी जंग की कशमकश में उसे कुछ नहीं सूझ रहा है कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है? अपनी खोती-बनती पहचान के संघर्ष में डूबता-उबरता वह निपट अकेला व्यक्ति नये भ्रम पाल रहा है।

हिंसा का उल्लास (या अट्टहास) इसी छटपटाहट की एक अभिव्यक्ति है। भारतीय मानस के लिए यह अटपटा है क्योंकि यहाँ जगत् और स्व के बीच कोई प्रतिद्वन्द्विता या दुराव नहीं है। दोनों ही एक तत्त्व से ओतप्रोत माने जाते रहे हैं। इनमें स्व की समृद्धि, राष्ट्र से ही संभव होती है। यहाँ अनेकान्त दर्शन की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। भिन्न धर्मों, भाषाओं, रीति-रिवाजों से बने भारतीय या किसी भी समाज में भिन्नता का सहज स्वीकार आवश्यक है। हम इस सच्चाई को समझें और अमल में लावें। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे को गढ़ते बनाते हैं। व्यक्ति की संभावना

समाज के बाहर नहीं हो सकती। इसके बीच के भेद के दुष्परिणाम हिंसा और युद्ध के रूप में दिखते हैं। इसे समझना और जीवन में उतारना ही एक मात्र विकल्प है।

इस सन्दर्भ में अहिंसा प्रशिक्षण जैसे प्रायोगिक विचारों का भी उदय बीसवीं सदी में हो चुका है। ये प्रक्रियायें भी अभी वक्त लेंगी, किन्तु यह तो तय है कि कोई भी समाज आतंकवाद को, हिंसा को, अशान्ति को सतत बर्दाश्त नहीं कर सकता, इसलिए परिवर्तन स्वयं से ही करना होगा।

हम बुरे के प्रति सतर्क रहें और अच्छे के लिए आश्वस्त, तभी कुछ नया सर्जन कर सकते हैं, एक नयी समाज मीमांसा की तरफ बढ़ सकते हैं जो भय मुक्त अहिंसक समाज संरचना की अवधारणा प्रस्तुत कर सके और अहिंसक समाज तथा राष्ट्र का निर्माण कर सके।

निष्कर्ष

नि:सन्देह कोई भी उच्च मानवीय मूल्य किसी धर्म विशेष की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता है। किन्तु, यदि कोई धर्म या समाज उस शाश्वत मूल्य के उपयोग में, संरक्षण-संवर्धन में या उसके अनुसन्धान में विशेष श्रम करता है, उसे सिर्फ जीवित ही नहीं बल्कि उसकी प्रयोगधर्मिता को भी बरकरार रखने में अपना विशेष योगदान देता है तो युग-युगान्तर तक सहज ही वह शाश्वत मूल्य उस धर्म की पहचान बन जाता है।

जैनधर्म के सभी तीर्थंकरों तथा आचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने किसी भी सिद्धान्त का प्रयोग सिर्फ आत्मकल्याण के लिए ही नहीं किया प्रत्युत सृष्टि के समस्त प्राणियों के अभ्युदय एवं सुख-शान्तिमय जीवन के लिए उन मार्गों को आम कर दिया। इसीलिए भगवान महावीर ने इसी के अन्तर्गत 'सर्वोदय'[1] की भावना का प्रसरण किया जहाँ मात्र मनुष्य की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जीव जगत् के अभ्युदय का उद्देश्य निहित है। किसी भी धर्म में जब तक इतनी उदार दृष्टि न हो उसे धर्म कैसे मान लिया जाये। धर्म की दृष्टि उदार और विशाल होती है, सम्प्रदायवाद उस दृष्टि को संकुचित कर देता है और आरोप धर्म पर आ जाता है।

अहिंसा जैसे शाश्वत उच्च मानवीय मूल्यों को प्राय: सभी धर्मों ने अपने-अपने मापदण्डों के अनुसार अपनाया। किन्तु; कुछ सम्प्रदायों ने अहिंसा की मूल भावना के अनुसार व्याख्या करने की बजाय अपनी पूर्व स्थापित मान्यताओं के साँचे में अहिंसा को ढालकर प्रस्तुत किया और फिर उसका जयघोष भी किया। उन्होंने अपने अपने अनुसार

---

1. सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव - युक्त्यनुशासनम्, श्लोक-61

अहिंसा को गढ़ा और उसकी स्थापनायें कीं। समाज में हर काल और युग में अनेक परिस्थितियाँ बनीं और बिगड़ीं, अनेक आक्रमण और धार्मिक रक्तपात भी हुये। इन तमाम कारणों से अहिंसा धर्म के बाहरी मापदण्डों में भी विशाल परिवर्तन आया।

कई परिस्थितियों में 'सुख-शांति' की स्थापना के लिए और अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा भी जरूरी समझी गयी। अहिंसा धर्म पर कई आरोप भी लगाये गये। आज भी लगभग हर राष्ट्र परमाणु हथियारों से लैस होकर, दूसरे राष्ट्रों को धमकाकर, खुद बारूद के ढेर पर खड़ा है। सभी के हाथ में हथियार हैं, सभी को खुद की मौत का भय है, इसलिए समान ताकत वालों पर हथियार नहीं चला रहा है, इसीलिए उनकी धारणा है कि शांति है, अहिंसा है।

हिंसा और शांति

यह नये किस्म की शांति है जो पूर्णतया हिंसा और भय से युक्त है। हिंसा के समर्थकों को ऐसी शांति पसन्द है। इस दौरान जो वार्तायें होती हैं उसे हम 'शांति वार्ता' कहते हैं। किन्तु धर्म और अध्यात्म इसे शांति और अहिंसा नहीं मानता। दोनों और हृदय में रक्तपात के अंगारे हों; मन में विनाश की योजना हो, आँखों में उतरता खून हो, एक हाथ में परमाणु बम का रिमोट कंट्रोल हो और दूसरे हाथ से हलक में उतरती शराब हो और आप कहते हैं यह शांति व्यवस्था है? जी नहीं! यह तो वही जालिम बर्बर-पन का मानवीय इतिहास है जब वह पत्थर के हथियार बनाकर मारे भूख के अपने ही परिजनों को मारने लगता था।

सभ्यता-संस्कृति और हिंसा

सभ्यता के नाम पर हमने बाहरी चकाचौंध और भौतिक संसाधनों का चाहे कितना भी विकास कर लिया हो किन्तु जब एक जननी मां अपनी गर्भ में पल रहे बेटा/बेटी की भ्रूण हत्या करवाती है, नवजात बेटी को कड़कड़ाती सर्दी में झाड़ियों में फेंक देती है तब सोचने पर मजबूर होना पड़ता है कि हमारे आदिम बर्बरपन के संस्कार अभी गये नहीं हैं, बल्कि हम पशुओं से भी निम्न स्तर पर गिरकर सभ्यता के विकास का

मजाक उड़ा रहे हैं। हमें लगता है कि हजारों वर्षों की ऋषि-मुनियों की साधना, उनके दिव्यज्ञान, आध्यात्मिक प्रेरणा का हमारी तथाकथित सभ्य समाज पर जरा सा भी असर नहीं पड़ पाया है।

हमने जब जब अहिंसा के विशाल स्वरूप को मजबूरियों से सनी हिंसा की शर्तों के अनुसार गढ़ने की कोशिश की है; मानवीय मूल्यों का ह्रास इसी तरह हुआ है।

उत्सवों में हिंसक आनन्द

इतना ही नहीं, हम यदि गौर करें तो पायेंगे कि हमारे जीवन में ऐसे कई काम हैं जिन्हें हम त्यौहार, उत्सव, संस्कृति, लोकाचार कुलाचार आदि के नाम पर करते हैं और उनमें हिंसा होती है और हम उसमें आनन्द मानते हैं। उसे धर्मानुकूल मानते हैं। उदाहरण के रूप में दीपावली को ही लें। इस दिन हम आतिशबाजी करते हैं। आनन्द का अनुभव करते हैं किन्तु इस आनन्दानुभूति में हमें यह ख्याल नहीं रहता कि पटाखे चलाने से असंख्य जीवों के प्राणों का हरण हो जाता है। सूक्ष्म जीव जो वातावरण में रहते हैं और दिखायी नहीं देते वे तो मरते ही हैं साथ ही आकाश में विचरण करने वाले पक्षी इत्यादि भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। कई स्थलों पर पशुओं की पूंछ में बमों की लड़ियाँ बाँधकर; उन पशुओं की मर्मवेदना, चीत्कार और मारे पीड़ा के यत्र-तत्र विचरण करता देख तालियाँ बजाते तथा आनन्दित होते लोगों को मैंने स्वयं कई बार देखा है। मकरसंक्रान्ति पर पतंग की तीखी डोर से कितने पक्षियों के पंख कट जाते हैं? हम कभी विचार नहीं करते। होली पर मनुष्य स्वयं आपस में खूनी संघर्ष तक कर डालते हैं; अनेक प्राणियों को सताते हैं।

इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। हम विचार ही नहीं करते हैं और न ही हमारा ध्यान इन बातों पर कभी जाता है। बच्चों को वीडियो गेम्स के माध्यम से नकली वध करके मनोरंजित होते हुये मैं अक्सर देखता हूँ। ये भावहिंसा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मनोरंजन की आड़ में हम हिंसा का कितना प्रशिक्षण उन्हें दे रहे हैं? हम इस बात पर भी

विचार नहीं करते हैं। हमें इन विषयों पर भी गम्भीरता से विचार करना होगा।

विश्वशांति और अहिंसा

यूनेस्को के घोषणा पत्र में यह उद्घोषित किया गया है कि **"युद्ध मनुष्य के मन से प्रारम्भ होता है, अतः शान्ति का परकोटा भी मनुष्य के मन में ही खड़ा करना होगा।"**[1]

जिस प्रकार यह एक तथ्य है कि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है; ठीक उसी प्रकार यह भी तथ्य है कि हर मनुष्य में हिंसा के संस्कार संचित रहते हैं। अहिंसा का विकास क्रम से होता है। वह अचानक एक साथ जीवन में नहीं उतरती। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है–'अहिंसा के प्रति आस्था'। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अहिंसा के प्रति अनास्था का स्वर देते रहते हैं।

नारायण श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को युद्ध करने को चंद श्लोकों में जो कहा वह पूरी दुनिया को याद हो गया; किन्तु गीता और महाभारत के सम्पूर्ण अध्यायों में उन्होंने अहिंसा धर्म की जो विशद् व्याख्या की वह कुछ ही लोग पढ़ते-सुनते हैं।[2] अहिंसा परमो धर्मः[3] –यह महाभारत का वाक्य है। किन्तु इसे महाभारत के सन्देश के रूप में प्रचारित प्रसारित नहीं किया जाता। यह हमारी हिंसा के प्रति आस्था ओर रुचि को दर्शाता है।

किसी राष्ट्र पर आक्रमण करना हिंसा है–इसमें साधारणतया सभी सहमत हो जाते हैं किन्तु अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध करना हिंसा है–इससे कोई ज्यादा लोग सहमत नहीं दिखायी देते, बहुमत इस पक्ष में ही रहता है कि अपनी, अपने परिवार, समाज, धर्म या राष्ट्र की

---

1. 'Since war begins in the mind of men, it is in the mind of men that we have to erect the ramparts of peace' – UNESCO Charter)
2. गीता- 16/2-3, इत्यादि
3. महाभारत- 13/116/28

रक्षा के लिए शस्त्र उठाना धर्म है; अहिंसा है। आक्रमण तो हिंसा है प्रत्याक्रमण हिंसा नहीं है। इस अवधारणा से अहिंसा की जो मूल भावना है वह कमजोर कर दी जाती है। परिवार, समाज, धर्म या राष्ट्र की रक्षा के लिए लड़ना अपना नागरिक कर्त्तव्य माना जा सकता है; किन्तु उसे अहिंसा मानने का अर्थ है—अहिंसक प्रतिकार की सम्भावना को नष्ट कर देना। हिंसा को हिंसा मानने पर ही अहिंसक प्रतिकार की बात सोची जा सकती है। प्रत्याक्रमण को अहिंसा प्रवृत्ति मान लेने पर अहिंसक प्रतिकार के सारे द्वार स्वत: बन्द हो जाते हैं।

अपनी रक्षा के लिए युद्ध को अनिवार्य हिंसा मानने में कोई बुराई नहीं है। जैनधर्म में 'विरोधी हिंसा' हिंसा के चार भेदों में से एक है; न कि अहिंसा के भेदों में से। 'विरोधी हिंसा' गृहस्थ जीवन में मजबूरी वश होती ही है—यह स्वीकार किया गया है; किन्तु उसे हिंसा ही माना गया है। अहिंसा की सत्ता स्वतन्त्र है; वह किसी के अधीन नहीं है। युद्ध के माध्यम से हम दुश्मन को हरा तो सकते हैं किन्तु उसे जीत नहीं सकते। अहिंसा का सम्बन्ध हृदय परिवर्तन से है; इसके माध्यम से हम उसे जीत भी सकते हैं। विश्व शांति के लिए इस सम्भावना को जीवित रखना होगा।

अहिंसकों की भूल–

अहिंसा पर आस्था रखने वाले कुछ लोगों में एक मानसिक दुर्बलता होती है। वे अपने हर कार्य को उचित ठहराना चाहते हैं। वह हिंसक या अल्पहिंसक कार्य भी करें तो उसे उचित ठहराने में, अहिंसक कहने में उन्हें एक मानसिक तोष प्राप्त होता है। अहिंसा पर मात्र आस्था होने या अहिंसक समाज में जन्म लेने मात्र से कोई पूर्ण अहिंसक नहीं हो जाता है। राग-द्वेष से रहित वीतरागी जो करे वह अहिंसा है यह तो एक बार माना भी जा सकता है, किन्तु अहिंसा पर मात्र विश्वास रखने वाला जो कुछ भी करे वह 'अहिंसा' है; यह नहीं माना जा सकता।

हिंसा को अहिंसा कहकर या मानकर हम मानसिक सन्तुष्टि भले ही कर लें, सिद्धान्त की सुरक्षा नहीं कर सकते। 'अहिंसा' जैसे

शाश्वत सिद्धान्त का परिस्थिति के साथ समझौता मुझे स्वीकृत नहीं है। हम 'हिंसा' करें–यह हमारी मजबूरी हो सकती है, किन्तु यह अहिंसा नहीं हो सकती। अहिंसा का स्थायी सिद्धान्त है–राग-द्वेष से मुक्त अप्रमत्त होना।[1] युद्ध को दोनों ओर से राग-द्वेष मुक्त नहीं माना जा सकता। आक्रमणकारी राग द्वेष युक्त होकर युद्ध करता है और प्रत्याक्रमणकारी राग-द्वेष मुक्त होकर युद्ध करता है–ऐसी स्थापना नहीं की जा सकती।

निःशस्त्रीकरण की अवधारणा

विश्व शांति की स्थापना के लिए भगवान महावीर ने निःशस्त्रीकरण का सिद्धान्त दिया था। शस्त्र का प्रयोग जब भी होगा किसी न किसी जीव के वध के लिए होगा या उसे दुःख पहुँचाने के लिए होगा। चाहे उससे आक्रमण किया जाय या आत्मरक्षा। लोग घरों में आत्म-रक्षा के उद्देश्य से रिवाल्वर या बन्दूक रखते हैं। कभी विक्षिप्तता की स्थिति में, आक्रोश में मनुष्य या तो स्वयं को भी मार लेता है या अपने ही परिवार के सदस्यों को भी भून डालता है। इसी प्रकार परमाणु बम या जैविक हथियार बनाने वाले राष्ट्रों को स्वयं के हथियारों से स्वयं को भी कितना बड़ा खतरा है?

पाकिस्तान भारत पर परमाणु हथियार का प्रयोग करे तो क्या उसका स्वयं का कोई नुकसान नहीं होगा? स्वयं के विनाश की कीमत पर भी दूसरे के विनाश की बात सोचना कितनी भयावह है? इसीलिए युद्ध कभी समाधान नहीं बन सकता; वह तो हमेशा की तरह एक 'समस्या' के रूप में ही रहेगा। युद्ध मजबूरी हो सकता है अनिवार्य नहीं।

शिक्षा से हो शुरुआत-

मेरी तो मान्यता है कि 'अहिंसा' विषय शिक्षा का अनिवार्य अंग बना देना चाहिए। सिद्धान्त और प्रयोग इन दोनों माध्यमों से प्रत्येक छात्र एवं छात्रा को अन्य विषयों के साथ साथ अहिंसा का शिक्षण-प्रशिक्षण

---

1. 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।' –पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/44

देना चाहिए। विश्व शान्ति के प्रयासों में पहला कदम यह होना चाहिए कि देश के नौनिहालों को जन्म से ही अहिंसा की अनिवार्य शिक्षा दी जाय। दु:ख होता है जब बच्चों को वर्णमाला के कैलेण्डर में 'ब' माने बन्दूक पढ़ाया जाता है। 'ब' माने 'बत्तख', 'बन्दर' भी छाप सकते हैं। नफरत और हिंसा को जन्म से समाप्त करने के लिए यह सूक्ष्म दृष्टि हमें रखनी ही होगी। मूल्यों को साम्प्रदायिक करार देकर कभी कभी हम बहुत बड़ी भूल कर देते हैं। आज सैक्स एजुकेशन पर कोई विशेष विरोध दर्ज नहीं होता किन्तु जब हम अहिंसा आदि शाश्वत मूल्यों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की बात कहते हैं तो साम्प्रदायिक कहकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से हमने यह समझाने का प्रयास किया है कि 'अहिंसा' साम्प्रदायिक नहीं है। इस शाश्वत मूल्य का सम्बन्ध प्रत्येक धर्म से है।

वास्तव में यदि हम 'अहिंसा' की पुनर्स्थापना करना चाहते हैं तो उसकी मूलभावना को समझना होगा। विश्वशान्ति का मार्ग हमें अध्यात्म में ही मिलेगा। हम अध्यात्म का विकास जितना अधिक करेंगे उतने ही अधिक विश्व शान्ति के निकट पहुँचेंगे।

भगवान महावीर जैसे महापुरुषों ने अपनी आत्मा को इतना अधिक निर्मल बनाया कि उनके व्याप्त आभामण्डल से नरकों में भी हिंसा रुक गयी, शेर-गाय एक ही घाट पर पानी पीने लग गये। इसीलिए विश्व शांति का सच्चा मार्ग आत्मज्ञान से होकर निकलता है। सच ही कहा गया है–

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्व शांति का मूल है, वीतराग विज्ञान॥

सहायक ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ -

1. आचारांग
2. समयसार - आचार्य कुन्दकुन्द
3. प्रवचनसार - आचार्य कुन्दकुन्द
4. तत्त्वार्थसूत्र - आचार्य उमास्वामी
5. उत्तराध्ययन
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - आचार्य अमृतचन्द्र
7. भगवद् गीता - नारायण श्रीकृष्ण
8. गुरु ग्रन्थ साहिब
9. कुरान शरीफ
10. संयुक्त निकाय
11. छान्दोग्योपनिषद्
12. मनुस्मृति
13. महाभारत
14. मत्स्यपुराण
15. ऋग्वेद
16. अथर्ववेद
17. यजुर्वेद
18. धम्मपद
19. सुत्तनिपात
20. समणसुत्तं

सहायक ग्रन्थ

1. अहिंसा और अपरिग्रह – नीरज जैन, सतना, (म.प्र.)
2. अहिंसा और शान्ति – आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नयी दिल्ली–110002, (2005)
3. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में–डॉ0 हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर–302015, (2006)
4. अहिंसा – डॉ0 बच्छराज दूगड़, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, (2001)
5. अहिंसा तत्त्वदर्शन – युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु, (राज.) (1998)
6. अहिंसा विश्वकोश, भाग–1–2, सुभद्रमुनि, प्रकाशक यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली – 2004
7. अहिंसा प्रशिक्षण – संपा. मुनि धर्मेश, जैन विश्वभारती, लाडनूं, 1994
8. अहिंसा एवं पर्यावरण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म – प्रो. डॉ. राजाराम जैन, मोहनलाल चन्द्रवती जैन ट्रस्ट, दिल्ली 2007
9. करुणाशील हृदय – परम पावन दलाई लामा, फुल सर्कल, दिलशाद गार्डन, दिल्ली–110095 (1998)
10. गाँधी जीवन दर्शन–डॉ0चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा साहित्यप्रकाशन, मालीपाड़दिल्ली – 110006, (1995)
11. गाँधी दर्शन की रूपरेखा–डॉ. अखिलेश्वरप्रसाद दुबे, नर्दर्न बुकसेन्टर, 221/1, अंसारी रोड, नई दिल्ली 110002(2003)
12. गाँधी की अहिंसा : प्रशिक्षक निदर्शिका – एन. राधाकृष्णन, गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नयी दिल्ली, (2001)

13. चारित्र चक्रवर्ती – पण्डित सुमेरचन्द दिवाकर, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, नयी दिल्ली–110019 (2006)

14. जिनागमसार – सम्पादक – पवन जैन, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, 32, गाँधी रोड, देहरादून–248001, (1996)

15. जैनधर्म और दर्शन–मुनि श्री प्रमाणसागर, श्री दिगम्बर जैन प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर (म0प्र0) (1998)

16. जैनधर्म : एक झलक – डॉ0 अनेकान्त जैन, प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर ग्रन्थमाला, बुढ़ाना उत्तरप्रदेश, पञ्चम संस्करण (2011)

17. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप – देवेन्द्र मुनिशास्त्री, श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर – 313000 (राज0)(1982)

18. पारिवारिक शान्ति और अनेकान्त – डॉ0 बच्छराज दूगड़ / डॉ0 आलोक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, (2001)

19. परमपुरुषार्थ अहिंसा – प्रकाशक, जैना विद्या संस्थान, जयपुर

20. प्रवचनसार, ब्र.शीतल प्रसाद टीका, संपादक, डॉ. अनेकान्त जैन, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 2009

21. प्रवचनरत्नाकर भाग–8 –सम्पादक डॉ0 हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर जयपुर–302015, (1995)

22. प्रवचन परीक्षा, प्रस्तावना – सं. प्रो. फूलचन्दजैन प्रेमी, प्रकाशक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (2007)

23. भारतीय दर्शनों में अहिंसा तत्त्व, सुरेन्द्रकुमार त्यागी, क्लासिकल पब्लिसिंग कम्पनी, 28, शॉपिंग सेन्टर, करमपुरा, नयी दिल्ली–110015 (1999)

24. भिक्षु विचार दर्शन – युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज.) (1991)

25. भारत का संविधान : एक परिचय – ब्रजकिशोर शर्मा, प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली – 110011 (2004)

26. मानवता की धुरी–नीरज जैन, प्राच्य श्रमण भारती, 12/ए, निकट जैन मन्दिर, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर, (2006)

27. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन – प्रो0 डॉ0 फूलचन्द जैन प्रेमी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी (उ0प्र0), 221005

28. महात्मा ईसा – आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

29. रात्रि भोजन : एक वैज्ञानिक दृष्टि – ऐलक निर्भय सागर, संस्करण – 2003

30. विश्व–शान्ति एवं अहिंसा प्रशिक्षण – डॉ0 बच्छराज दूगड़, आचार्य शान्तिसागर स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना (उ0प्र0) (2001)

31. विश्वशान्ति का सन्देश – स्वामी विवेकानन्द, गणपति प्रकाशन, दिल्ली–110032 (2002)

32. विवेकानन्द साहित्य (सभी खण्ड) अद्वैतआश्रम, 5, डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता– 4, पञ्चम संस्करण (1998)

33. संस्कृति के चार अध्याय – रामधारीसिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (1997)

34. समस्या का सागर, अहिंसा की नौका – आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नयी दिल्ली–110002

35. सत्प्ररूपणासार – संपा. डॉ. अनेकान्त जैन, प्रकाशक, शांतिसागर छाणी ग्रन्थमाला, बुढ़ना, 2005

36. संवेगचूड़ामणि – डॉ. अनेकान्त जैन, प्रकाशक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2000

37. श्रमण आवश्यक निर्युक्ति – संपादक प्रो. फूलचन्द प्रेमी, प्रकाशक, जिन फाउण्डेशन, नई दिल्ली

English Books -

1. Ahimsa - The Science of Peace - Surendra Bothara, Prakrit Bharti Acamemy, Jaipur (1987)
2. The Law of Non-violence and its Relevance for all Times- V.P. Kothari, Jain Samskrti samrakshaka Sangha, Solapur. (1975)
3. The art and Science of Self realization (Purushartha-siddhyupaya of Amritachandra Suri) edited by Jagdish Prasad Jain 'Sadhak'
4. The Jaina Path of Ahimsa - Dr. Vilas Sangave, Mahaveer research centre, Shravika Sanstha, Solapur-2, (1991)
5. The Conception of Ahimsa in Indian Thought - Dr. Koshalya Walli, Bharata Manisha, Varanasi, (1974)

पत्र/पत्रिकायें

1. Times of India, New Delhi
2. विज्ञान प्रगति, नई दिल्ली
3. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली
4. तुलसी प्रज्ञा, जैनविश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं
5. अनेकान्त - वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
6. अर्हत् वचन - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
7. जिनभाषित, आगरा
8. तीर्थंकर वाणी, अहमदाबाद
9. प्राकृत विद्या, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली